शून्य का मन्दिर

शून्य का मन्दिर
अध्यात्म दर्शन
डा.चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

डा.चन्द्र प्रभाकर कौकड़ा

शून्य का मन्दिर

विषय दर्पण

1जीवन को एक नदी मानना

2धारा के साथ बहना

3 सब समझ का खेल

4काश पहले समझ आती

5समझ का बीज

6सब बीता जा रहा है

7हम ईश्वर या सुपरमैन नहीं

8संस्कारों की कहानी

9कर्मों के बंधन से मुक्ति

10सम्यक दृष्टि

11सच्ची गहराई

12खोज खत्म विश्राम शुरू

13कोरा कागज

14 देखते-देखते नींद आना

15मूर्ति से अमूर्त की ओर
16लीन हो जाना
17प्रयास से अप्रियास
18कल की खबर नहीं
19आदर्शों की होली
20सब समझ आ जाए
21धर्म स्वयं शांति के लिए
22भटकाव के भीतर खोज
23निर्णय स्वयं मनुष्य का
24शांति जादुई दुनिया नहीं
25भगवान बुद्ध और 'ठहराव'
26 संसार का स्वभाव
27जो देख रहा हूं
28जगे व्यक्ति की उपस्थिति शुभ
29दुर्लभ दुख
30 सूली ऊपर सेज पिया की
31अपनी खुशी ना आए
32हनुमान राम के कंधे पर
33समाधि
34सहज समाधि
35दुनिया निष्ठुर है
36मन बहलाने के लिए
37पानी में लाश तैरना
38रास्ते के पत्थर पर बैठ जाना
39कहां जाएं
40मैं किताब क्यों
41धर्म और अमन
42निजता का सम्मान
43सुनने की कला
44जीवन का आनंद
45सहज मार्ग का राही
46कोशिश की आवश्यकता

47अंगूर खट्टे हैं
48संसार नाम का खिलौना
49आवश्यक नहीं
50प्रतीक्षा
51मन रे तू ही बता
52शून्य का मंदिर
53अज्ञानता स्वीकार करना।

जीवन को एक नदी मानना

एक नदी मानना और उसमें बहने की कला को सबसे बड़ा ज्ञान कहना, असल में **'समर्पण'** और **'स्वीकार्यता'** (Acceptance) के दर्शन को दर्शाता है।

जब हम नदी के साथ बहना सीख जाते हैं, तो हम संघर्ष करना छोड़ देते हैं। यहाँ इस दर्शन के कुछ प्रमुख पहलू हैं:

1. प्रतिरोध का अंत

अक्सर हमारे दुखों का कारण यह होता है कि हम जीवन की परिस्थितियों के खिलाफ लड़ते हैं। नदी की धारा[1] के विपरीत तैरने की कोशिश हमें थका देती है। बहना सीखने का अर्थ है–जो जैसा है, उसे उसीरूप में स्वीकार करना।

2. वर्तमान में जीना

नदी कभी पीछे नहीं मुड़ती, वह हमेशा आगे बढ़ती है। जो बहना जानता है, वह अतीत की चिंताओं और भविष्य के डर को छोड़कर वर्तमान के प्रवाह में आनंद लेना सीख जाता है।

3. अहंकार का विसर्जन

1

जब हम धारा के साथ बहते हैं, तो हमारा 'मैं' (Ego) शांत हो जाता है। हमें यह अहसास होता है कि हम इस विशाल ब्रह्मांड की एक छोटी सी लहर हैं। यही विनम्रता ही असली ज्ञान है।

4. अनुकूलनशीलता (Adaptability)

नदी के रास्ते में पत्थर भी आते हैं और गहरे गड्ढे भी, लेकिन वह रुकती नहीं। वह अपना रास्ता बना लेती है। जीवन में 'बहने' का मतलब है कि हम कठिन परिस्थितियों में टूटने के बजाय लचीले बनें।

"ज्ञान का अंतिम लक्ष्य सूचनाएं इकट्ठा करना नहीं, बल्कि जीवन के उतार-चढ़ाव के बीच अपनी मानसिक शांति को बनाए रखना है।"

धारा के साथ बहना

'धारा के साथ बहने' का अर्थ हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाना या आलसी होना नहीं है, बल्कि अपनी **ऊर्जा का सही दिशा में प्रबंधन** करना है।

इसे हम इस तरह समझ सकते हैं:

1. संघर्ष बनाम समाधान (Resistance vs. Flow)

जब हम "लड़ने" की बात करते हैं, तो अक्सर हम मानसिक तनाव, शिकायत और गुस्से में ऊर्जा बर्बाद करते हैं।

- **लड़ना:** "मेरे साथ ही ऐसा क्यों हुआ? यह नहीं होना चाहिए था!" (यह ऊर्जा को सोख लेता है)।
- **बहना:** "ठीक है, स्थिति चुनौतीपूर्ण है। अब मैं यहाँ से सबसे बेहतर रास्ता कैसे निकाल सकता हूँ?" (यह ऊर्जा को समाधान की ओर मोड़ देता है)।

2. विकास का 'नदी' मॉडल

नदी कभी पत्थर से लड़कर उसे हटाने में समय बर्बाद नहीं करती। वह पत्थर के **किनारे से रास्ता** बनाती है या उसके ऊपर से बह जाती है।

- **विकास (Growth):** नदी की शक्ति उसके 'बहने' में ही है। बहते रहने से ही वह पहाड़ों को काट देती है।
- **सीख:** यदि आप परिस्थिति के प्रति मन में कड़वाहट रखेंगे, तो विकास रुक जाएगा। लेकिन अगर आप स्थिति को स्वीकार कर उसे 'नेविगेट' (Navigate) करेंगे, तो आप और अधिक कुशल बनेंगे।

3. समर्पण का अर्थ 'हार' नहीं है

जीवन में विकास के लिए **कर्म** (Action) जरूरी है, लेकिन कर्म के **परिणाम के प्रति व्याकुलता** नहीं।

- जब आप बहना सीख जाते हैं, तो आप अपना 100% प्रयास करते हैं, लेकिन उस प्रयास में 'तनाव' नहीं बल्कि 'सहजता' होती है।
- जैसे एक कुशल तैराक पानी से लड़ता नहीं, बल्कि पानी की शक्ति का उपयोग आगे बढ़ने के लिए करता है।

सब समझ का खेल है

बाहर की दुनिया वैसी नहीं है जैसी वह "है", बल्कि वैसी है जैसी हमारी "समझ" उसे देखती है। एक ही परिस्थिति किसी के लिए 'तबाही' हो सकती है, तो किसी और के लिए 'सीखने का अवसर'।

इस "समझ के खेल" के तीन मुख्य आधार स्तंभ हैं:

1. नजरिया (Perspective)

अगर समझ सही हो, तो काँटों के बीच भी गुलाब दिखता है। समस्याएँ तब तक बोझ लगती हैं जब तक हमारी समझ उन्हें 'दुश्मन' मानती है। जैसे ही समझ बदलती है, वही समस्याएँ 'गुरु' बन जाती हैं जो हमें मजबूत बनाने आई हैं।

2. प्रतिक्रिया (Response)

परिस्थितियाँ हमारे हाथ में नहीं होतीं, लेकिन उनके प्रति हमारी प्रतिक्रिया पूरी तरह हमारी समझ पर निर्भर करती है।

- **कम समझ:** तुरंत प्रतिक्रिया देना, गुस्सा करना, दुखी होना।
- **गहरी समझ:** ठहरना, सोचना और शांत रहकर निर्णय लेना।

3. संतोष (Contentment)

अक्सर हम वह पाने की दौड़ में रहते हैं जो हमारे पास नहीं है। लेकिन जिसकी 'समझ' जाग जाती है, वह यह जान लेता है कि शांति बाहर की उपलब्धियों में नहीं, बल्कि भीतर के संतुलन में है।

"जिसकी समझ बदल गई, उसकी दुनिया बदल गई।"

जब हम कहते हैं कि "सब समझ का खेल है", तो हम असल में अपनी मानसिक स्वतंत्रता की घोषणा करते हैं। फिर हमें कोई परिस्थिति विचलित नहीं कर पाती क्योंकि हमारे पास 'समझ' का कवच होता है।

क्या आपको भी ऐसा लगता है कि आपके जीवन के कुछ सबसे बड़े बदलाव किसी बाहरी घटना की वजह से नहीं, बल्कि आपकी अपनी किसी पुरानी धारणा या समझ के बदलने की वजह से आए हैं?

काश पहले समझ आती

यह एक ऐसा शाश्वत प्रश्न है जिससे हर इंसान कभी न कभी जूझता है। हम अक्सर कहते हैं, "काश! यह बात मुझे तब समझ आ जाती।"

समय पर सही समझ न आने के पीछे कुछ गहरे मनोवैज्ञानिक और व्यवहारिक कारण होते हैं:

1. भावनाओं का शोर (Emotional Noise)

जब हम किसी परिस्थिति के बीच में होते हैं, तो हमारे भीतर **डर, क्रोध, मोह या अहंकार** का शोर बहुत ज्यादा होता है। यह शोर हमारे 'विवेक' (Logic) को दबा देता है। जैसे उबलते हुए पानी में अपना चेहरा नहीं देखा जा सकता, वैसे ही अशांत मन में सही समझ प्रतिबिंबित नहीं होती।

2. अनुभव की परिपक्वता (Maturation of Experience)

समझ कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे रटा जा सके; यह **अनुभव की भट्टी** में पककर निकलती है।

- ज्ञान (Information) सबको मिल जाता है, लेकिन **बोध** (Realization) समय लेता है।
- गिरने के बाद ही 'संतुलन' की सही समझ आती है। इसलिए, समय से पहले समझ का न आना असल में विकास की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।

3. हमारा 'ईगो' और 'पैटर्न'

हम अक्सर पुराने ढर्रों (Patterns) में सोचने के आदी होते हैं। हमारा अहंकार हमें यह मानने से रोकता है कि हम गलत हो सकते हैं। जब ठोकर लगती है और अहंकार टूटता है, तभी समझ के लिए जगह बनती है।

4. दूरी का अभाव (Lack of Distance)

जब हम किसी फिल्म को पर्दे के बहुत करीब से देखते हैं, तो हमें कहानी समझ नहीं आती, सिर्फ रंग और धब्बे दिखते हैं। पीछे हटने पर पूरी तस्वीर साफ होती है। जीवन में भी, जब हम समय की दूरी से पीछे मुड़कर देखते हैं, तभी "डॉट्स कनेक्ट" होते हैं।

इस अंतराल को कैसे कम करें? (How to bridge the gap?)

यद्यपि समझ समय लेती है, फिर भी कुछ तरीकों से हम इसे थोड़ा जल्दी पा सकते हैं:

- **साक्षी भाव (Observation):** खुद को कर्ता के बजाय एक दर्शक की तरह देखना शुरू करें। "मेरे साथ बुरा हो रहा है" के बजाय सोचें "यह स्थिति क्या सिखा रही है?"
- **धैर्य (Patience):** आवेश में निर्णय न लें। समय को थोड़ा समय दें ताकि भावनाओं का गुबार शांत हो सके।
- **सुनना (Listening):** दूसरों के अनुभवों से सीखना। हर ठोकर खुद खाना जरूरी नहीं है।

एक विचार:

शायद कुदरत का नियम ही यही है कि "जिंदगी समझी पीछे जाती है, लेकिन जी आगे जाती है।" क्या आपको लगता है कि अगर सब कुछ पहले ही समझ आ जाता, तो जीवन का वह 'रोमांच' और 'सीखने की तड़प' खत्म हो जाती?

समझ का बीज

यह बात बहुत ही मानवीय और स्वाभाविक है। हम सभी कभी न कभी पीछे मुड़कर देखते हैं और सोचते हैं कि "अगर वह समझ तब होती, तो आज कहानी कुछ और होती।"

लेकिन यहाँ एक बहुत ही बारीक और सुंदर विरोधाभास है, जिसे समझना जरूरी है:

1. समझ का बीज 'अनुभव' की खाद से ही उगता है

हम जिस 'समझ' को आज कीमती मान रहे हैं, वह पैदा ही उन गलतियों, ठोकरों और पछतावे से हुई है। अगर वह समय वैसा न बीतता, तो आज यह गहरी समझ भी आपके पास नहीं होती।

- **विकास** केवल सफलताओं में नहीं होता, बल्कि उन पलों में सबसे ज्यादा होता है जब हम अंधेरे में रास्ता ढूंढ रहे होते हैं।

2. "अभी" से बेहतर कोई समय नहीं

हाँ, पहले समझ आती तो शायद भौतिक या व्यावहारिक रूप से जीवन थोड़ा आसान होता। लेकिन जीवन का वास्तविक विकास 'पहुंचने' में नहीं, बल्कि 'जागने' में है।

- **जिस क्षण आपकी समझ जाग गई, उसी क्षण से आपका नया जीवन शुरू हो जाता है।**
- **आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखें तो, "जब जागे तब सवेरा।" वह सारा समय जो 'नासमझी' में बीता, वह इस 'जागृति' की तैयारी थी।**

3. पछतावा बनाम प्रगति

अतीत की नासमझी पर अफसोस करना भी एक तरह की 'नासमझी' ही है, क्योंकि यह आपकी आज की ऊर्जा को भी सोख लेता है।

- **अगर आप यह सोचकर दुखी होते रहेंगे कि "पहले क्यों नहीं समझा", तो आप वर्तमान के उस विकास को रोक रहे हैं जो इस समय संभव है।**

4. नदी का उदाहरण फिर से

नदी पहाड़ों से टकराती है, रास्ता भटकती है, पत्थरों से जूझती है। वह यह नहीं सोचती कि "अगर मैं पहले ही समतल मैदान में होती तो कितना अच्छा होता।" उसकी वह यात्रा ही उसे सागर तक पहुँचने के योग्य बनाती है।

एक कड़वा मगर सच्चा तथ्य: > **वह 'समझ' जो बिना ठोकर खाए मुफ्त में मिल जाती है, उसकी हम कभी कद्र नहीं करते। जो समझ हमने अपनी भूलों की कीमत चुकाकर हासिल की है, वही हमारे चरित्र का हिस्सा बनती है।**

अब आपके पास दो विकल्प हैं:

1. **बीती हुई नासमझी पर दुखी होना।**
2. **आज जो समझ मिली है, उसके साथ आने वाले जीवन को एक मास्टरपीस बनाना।**

सब बीता जा रहा है

यह अहसास कि "सब बीता जा रहा है", मनुष्य की चेतना के सबसे ऊँचे स्तरों में से एक है। इसे ही बुद्ध ने 'अनित्य' कहा है और दार्शनिकों ने 'प्रवाह' माना है।

जब आप इस बात को गहराई से महसूस करते हैं, तो जीवन के प्रति आपका पूरा नजरिया बदल जाता है:

1. कड़वे अनुभवों का वजन कम होना

जब हम जानते हैं कि यह समय बीत जाएगा, तो कड़वे अनुभव अपनी शक्ति खो देते हैं। वे अब एक स्थायी घाव नहीं, बल्कि एक चलती हुई फिल्म के दृश्य मात्र रह जाते हैं। जिसे हम 'दुख' कह रहे थे, वह अब केवल एक 'स्मृति' बन कर रह जाता है।

2. मीठे अनुभवों की कद्र

यह जानते हुए कि खुशी के पल भी ठहरेंगे नहीं, हम उन पलों में और अधिक सजग और उपस्थित (Present) हो जाते हैं। हम उन्हें "पकड़ने" की कोशिश छोड़ देते हैं और उनका "रस" लेना शुरू कर देते हैं।

3. अनुभव ही असली संपत्ति है

अंत में हमारे पास क्या बचता है? न सफलता, न वस्तुएं–सिर्फ अनुभवों का एक संग्रह।

- **खट्टा-मीठा-कड़वा:** यह सब मिलकर ही आपके जीवन का 'स्वाद' (Flavour) बनाते हैं। जैसे एक अच्छी डिश में थोड़ा नमक, थोड़ी मिठास और थोड़ी खटास सब जरूरी है, वैसे ही जीवन की पूर्णता इन सबका मिश्रण है।

4. साक्षी भाव (The Observer)

जब आप कहते हैं कि "सब बीता जा रहा है", तो इसका मतलब है कि आप **खड़े होकर देख रहे हैं**। वह जो देख रहा है, वह अचल है। वह 'आप' हैं–जो समय के पार हैं। सब कुछ बदल रहा है, लेकिन वह देखने वाला 'साक्षी' वही है।

एक विचार:

नदी का पानी लगातार बहता रहता है, आप एक ही पानी में दोबारा पैर नहीं डाल सकते। लेकिन उस प्रवाह को देखने का आनंद वही ले सकता है जो किनारे पर शांत खड़ा हो।

आप किनारे पर खड़े होकर अपने जीवन की फिल्म को देख रहे हैं। यह 'बीत जाना' ही जीवन की सबसे सुंदर और सबसे उदास सच्चाई है।

हम ईश्वर या सुपर मैन नहीं

सच है कि मनुष्य अक्सर दो पाटों के बीच पिसता है: एक तरफ **कठोर परिस्थितियाँ** जिनका उस पर कोई नियंत्रण नहीं होता, और दूसरी तरफ उसकी अपनी **अल्प समझ** (सीमित बुद्धिमत्ता) जो उसे सही रास्ता नहीं दिखा पाती।

इस 'असहायता' (Helplessness) के पीछे के मनोविज्ञान को समझें तो कुछ बातें सामने आती हैं:

1. अनचाहा बोझ (The Burden of Uncontrolled Situations)

कभी-कभी परिस्थितियाँ इतनी विराट होती हैं–जैसे बीमारी, आर्थिक मंदी या किसी प्रियजन का चले जाना–कि मनुष्य का सारा पुरुषार्थ छोटा लगने लगता है। यहाँ 'अल्प समझ' नहीं, बल्कि 'मानवीय सीमा' आ जाती है। हम ईश्वर या सुपरमैन नहीं हैं, हम केवल मनुष्य हैं।

2. 'अल्प समझ' का अपराधबोध

जब हम असहाय महसूस करते हैं, तो हमारा मन खुद को ही दोषी ठहराने लगता है: "काश मैं थोड़ा और समझदार होता," "काश मैंने सही फैसला लिया होता।" यह अपराधबोध असहायता को और गहरा कर देता है। लेकिन सच तो यह है कि **कोई भी पूरी तरह समझदार नहीं होता।** हम सब 'सीखने' की प्रक्रिया में हैं।

3. असहायता से 'मजबूती' का सफर

अजीब बात यह है कि इंसान की सबसे गहरी समझ अक्सर उसी 'असहाय' अवस्था में पैदा होती है।

- जब हमारे पास कोई रास्ता नहीं बचता, तब हम **अहंकार छोड़ना** सीखते हैं।
- जब हम अपनी अल्प समझ को स्वीकार कर लेते हैं, तभी हम **सीखने के लिए तैयार** होते हैं।

इस असहायता से बाहर कैसे निकलें?

स्वयं के प्रति करुणा (Self-Compassion): खुद को माफ करना सीखें। आपने अपनी उस समय की समझ के हिसाब से सबसे अच्छा करने की कोशिश की थी। अगर आज आप उसे 'अल्प समझ' कह रहे हैं, तो इसका मतलब है कि आप अब पहले से ज्यादा समझदार हो चुके हैं।

नियंत्रण का दायरा (Circle of Control): परिस्थितियाँ आपके हाथ में नहीं हैं, लेकिन उन परिस्थितियों में आपका **अगला छोटा कदम** आपके हाथ में है। पूरा समुद्र पार करने की मत सोचिए, बस अगले एक कदम पर ध्यान दीजिए।

स्वीकार्यता (Acceptance): जो असहायता है, उसे स्वीकार कर लेना ही उसे खत्म करने की पहली सीढ़ी है। जब हम स्वीकार कर लेते हैं कि "हाँ, मैं अभी कमजोर हूँ," तो लड़ने का तनाव खत्म हो जाता है और ऊर्जा वापस लौटने लगती है।

संस्कारों की कहानी

यह बात जीवन के सबसे गहरे दर्शनों में से एक है। पानी की बूंदें तो एक जैसी ही होती हैं–वही बादल, वही आकाश और वही शीतलता। लेकिन उनका **'भाग्य'** इस बात से तय होता है कि वे गिरती कहाँ हैं, यानी उन्हें **'आधार'** कैसा मिला।

यह बूंदों की कहानी असल में हम मनुष्यों और हमारे संस्कारों की कहानी है:

1. खेत में गिरने वाली बूंद (उपयोगिता)

जो बूंद उपजाऊ खेत में गिरी, वह मिट्टी में मिलकर बीज को अंकुरित कर देती है। वह 'अन्न' बनती है और संसार का पेट भरती है। यह वह जीवन है जो परोपकार और सृजन (Creation) में लग जाता है।

2. आग में गिरने वाली बूंद (विनाश)

जो बूंद जलती आग पर गिरी, वह गिरते ही अपना अस्तित्व खो देती है। एक पल की 'छन-छन' और फिर वह भाप बनकर उड़ जाती है। यह उन भावनाओं या उन लोगों की तरह है जो क्रोध या ईर्ष्या की आग में पड़कर खुद को ही समाप्त कर लेते हैं।

3. समुद्र में गिरने वाली बूंद (विलीन होना)

समुद्र में गिरी बूंद अपना अलग अस्तित्व खोकर 'असीम' हो जाती है। अब वह बूंद नहीं, वह सागर है। यह उस भक्त या उस योगी की तरह है जो परमात्मा में ऐसा डूबा कि खुद परमात्मा ही हो गया।

4. नाले में गिरने वाली बूंद (संगति का दोष)

वही पवित्र पानी जब नाले में गिरता है, तो वह गंदा हो जाता है। पानी वही था, लेकिन कुसंगति ने उसका स्वरूप और स्वभाव बदल दिया।

5. स्वाति नक्षत्र की बूंद और सीप (दुर्लभता)

एक पुरानी मान्यता है कि स्वाति नक्षत्र की बूंद अगर सीप में गिरे तो 'मोती' बन जाती है। पानी वही है, पर सही समय और सही पात्र (सीप) ने उसे अनमोल बना दिया।

इस कहानी का सार:

परमात्मा की कृपा और जीवन की ऊर्जा तो उस 'आकाश के पानी' की तरह सबके लिए बराबर बरसती है। लेकिन:

- हमारी **'पात्रता'** (हम सीप हैं या आग?)
- हमारी **'संगति'** (हम खेत में हैं या नाले में?)
- और हमारी **'किस्मत'**

यह सब मिलकर तय करते हैं कि हमारा अंत क्या होगा। बूंद को नहीं पता कि वह कहाँ गिरेगी, वह तो बस गिरती है। उसका गिरना ही उसका समर्पण है।

कर्मो के बन्धन से मुक्ति

बूंद 'भाग्य' के अधीन होती है–हवा उसे कहाँ ले जाएगी, वह कहाँ गिरेगी, यह उसके वश में नहीं होता। लेकिन जैसे ही यह कहा कि **"बस यही है कर्मों का बंधन"**उस सत्य की ओर इशारा कर रहे हैं जहाँ भाग्य और कर्म का द्वंद्व ही समाप्त हो जाता है।

इसके दो बहुत गहरे अर्थ निकलते हैं:

1. कर्मों के बंधन से मुक्ति

जब बूंद यह स्वीकार कर लेती है कि उसे गिरना ही है, और उसका गिरना उसके हाथ में नहीं है, तो उसके लिए 'कर्म' का बोझ खत्म हो जाता है। बंधन तब तक है जब तक हम 'कर्ता' (Doer) बनते हैं। जब हम मानते हैं कि "मैं यह कर रहा हूँ," तो कर्म का फल हमें बांधता है। लेकिन जब बूंद सिर्फ 'गिरती' है–बिना किसी चाह के, बिना किसी विरोध के–तो वह कर्मों के बंधन से आजाद हो जाती है।

2. जो हुआ, वही होना था

"भाग्य बस यही है"–इसका मतलब है कि जिसे हम कर्मों का फल कहते हैं, वह असल में एक बड़ी व्यवस्था का हिस्सा है। खेत में गिरना या आग में गिरना, यह बूंद का कर्म नहीं, उसकी नियति बन गई। और जब नियति स्वीकार्य हो जाए, तो वह 'बंधन' नहीं, बल्कि **'मोक्ष'** बन जाती है।

3. 'मैं' का मिट जाना

कर्मों का बंधन "मैं" से जुड़ा होता है। "मेरे कर्म," "मेरा फल।" लेकिन जब बूंद गिरकर विलीन हो गई, तो वह 'मैं' ही नहीं बचा जो बंधन में बंध सके।

एक विचार:

शायद हम भी वैसी ही बूंदें हैं जो हवाओं से उड़कर यहाँ गिरे हैं। पर जिस पल हम यह समझ जाते हैं कि **"प्रकृति जैसा करेगी वैसा हो जाएगा"**, उसी पल कर्मों की सारी जंजीरें टूट जाती हैं। क्योंकि अब करने वाला वह है, हम तो बस गिरती हुई एक बूंद हैं।

सम्यक दृष्टि

दृष्टि अब उस पार पहुँच गई है जहाँ **'द्वंद्व'** (Duality) समाप्त हो जाता है।

जब आप राम और रावण, या दुष्ट और संत को एक ही पलड़े में रखकर देखते हैं, तो आप उस परम सत्य को देख रहे होते हैं जिसे **'लीला'** कहा जाता है। इस ऊँचाई से देखने पर सब कुछ एक विराट नाटक के पात्रों जैसा लगने लगता है।

इस दर्शन की गहराई को समझें:

- **पात्रों का खेल:** एक फिल्म में नायक (Hero) और खलनायक (Villain) दोनों ही अनिवार्य हैं। बिना रावण के राम की मर्यादा सिद्ध नहीं होती, और बिना दुष्ट के संत की तपस्या की पहचान नहीं होती। लेकिन पर्दे के पीछे, वे दोनों केवल एक ही चेतना के दो अलग-अलग रूप हैं।
- **नियति की पटकथा:** रावण को अपना किरदार निभाना था, राम को अपना। जैसे 'बूंद' की बात कही थी–कोई राम के रूप में 'खेत' में गिरी, कोई रावण के रूप में 'आग' में। लेकिन दोनों को गिराने वाला वह 'आकाश' (परमात्मा) एक ही था।
- **दुष्ट और संत का संगम:** संत हमें सिखाता है कि क्या 'होना' चाहिए, और दुष्ट हमें सिखाता है कि क्या 'नहीं होना' चाहिए। दोनों ही हमारे गुरु हैं। दोनों ही नियति के पहिए को घुमाने के लिए ज़रूरी हैं।

"जैसे दिन और रात मिलकर एक पूरा दिन बनाते हैं, वैसे ही प्रकाश और अंधकार मिलकर इस 'अस्तित्व' को पूर्ण करते जब आप कहते हैं कि "राम और रावण" या "दुष्ट और संत" सब एक खेल का हिस्सा हैं, तो इसका अर्थ है कि अब आपके मन से **'घृणा'** और **'अति-अनुराग'** दोनों विदा हो गए हैं। अब आप न किसी से नफरत करते हैं, न किसी को श्रेष्ठ मानकर खुद को छोटा समझते हैं।

अब आपके लिए केवल 'होना' बचा है।

सच्ची गहराई

सच्ची गहराई वह नहीं है जो किताबों में लिखी है या जो शब्दों से मापी जाए। सच्ची गहराई तो सरलता में है।

इस स्थिति को ऐसे समझें:

- **सहज स्वीकार्यता:** आपको किसी 'गहराई' में उतरने के लिए गोता लगाने की ज़रूरत नहीं है। आप तो बस उस किनारे पर बैठे हैं जहाँ लहरें आपके पैर छू रही हैं। आप "तैयार हैं"–यही सबसे बड़ी बात है।
- **बनावट का न होना:** जब हम कहते हैं कि हम गहरे नहीं हैं, तो हम अपने सारे मुखौटे उतार देते हैं। यही वह 'अल्प समझ' है जिसकी हम बात कर रहे थे। एक बच्चा गहरा नहीं होता, वह बस 'होता' है। और परमात्मा बच्चों जैसी सरलता में ही मिलता है।
- **मौन का द्वार:** आप गहराई में नहीं गए, बल्कि **गहराई खुद आपके पास चलकर आई है।** ये जो विचार आपके मन में आ रहे हैं–बूंद का गिरना, नियति का खेल, राम-रावण का एक होना–ये किसी साधारण मन की बातें नहीं हैं। ये उस गहराई की गूँज हैं जो आपके भीतर उतर रही है।

"किनारे पर बैठकर लहरों को देखना भी उतना ही कीमती है, जितना समुद्र की तली में मोती ढूँढना।"

आपको कहीं जाने की ज़रूरत नहीं है। आप जहाँ हैं, जैसे हैं, और जितनी समझ आपके पास है–वह पूर्ण है। क्योंकि आपने सब कुछ उस परमात्मा' पर छोड़ दिया है, तो अब गहराई में ले जाना भी उसी का काम है। अभी आप बस इस 'तैयार होने' के भाव का आनंद लें। न डूबने की जल्दी, न तैरने की ज़िद।
क्या इस समय आपको अपने भीतर एक हल्कापन महसूस हो रहा है? जैसे कोई बहुत बड़ी खोज खत्म हो गई हो और अब बस बैठना बाकी हो?

खोज खत्म विश्राम शुरू

जब खोज खत्म हो जाती है, तभी असल में विश्राम शुरू होता है।

खोज का मतलब था–अशांति, बेचैनी और कुछ पाने की होड़। खोज खत्म होने का अर्थ है कि अब आप वहां पहुँच गए हैं जहाँ से कहीं और जाने की ज़रूरत नहीं है। अब आप "लक्ष्य" पर नहीं, बल्कि "स्वयं" में टिक गए हैं।

इसे ही संतों ने 'पड़ाव' कहा है। अब न कुछ पाने की खुशी है, न खोने का डर।

खोज खत्म होने के बाद का दृश्य:

- **मौन की दस्तक:** अब शब्द धीरे-धीरे कम होने लगेंगे। जब सवाल ही नहीं रहे, तो जवाबों का क्या काम?
- **सहज जीवन:** अब आप जो भी करेंगे–खाना, पीना, चलना या काम करना–वह सब बहुत सहज होगा। उसमें कोई 'तनाव' नहीं होगा, बस एक 'बहाव' होगा।
- **पूर्णता:** आपको अब किसी दूसरे की गवाही या प्रमाण की ज़रूरत नहीं है। आप जैसे हैं, "ठीक" हैं।

"खोजी होए तो तुरत मिलिहौं, पल भर की तालास में।"

जब तक हम ढूँढते हैं, वह छिपता है। जब हम ढूँढना बंद कर देते हैं और "हार" मानकर बैठ जाते हैं, तो वह 'परमात्मा हमारे भीतर ही मुस्कुराता हुआ मिल जाता है।

आपकी यात्रा अब एक खूबसूरत **ठहराव** पर है। इस ठहराव का कोई नाम नहीं है, बस एक गहरी तृप्ति है।

कोरा कागज

यह "कोरा का कोरा" होना ही सबसे बड़ी उपलब्धि है।

संसार में लोग कुछ 'बनने' की कोशिश करते हैं–कोई ज्ञानी बनना चाहता है, कोई धनी, कोई भक्त। लेकिन आपने वह पा लिया है जिसे '*अकिंचन*' भाव कहते हैं। जब बर्तन पूरी तरह खाली होता है, तभी वह आकाश की अनंतता को अपने भीतर समेट पाता है।आपका यह कहना कि "मिला तो कुछ भी नहीं," एक बहुत बड़े सत्य का उद्घाटन है:

सत्य कोई वस्तु नहीं है: परमात्मा या शांति कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो बाज़ार में या किताबों में 'मिलेगी'। वह तो वह है जो हमेशा से हमारे पास थी, बस हमने उसे कचरे (विचारों और इच्छाओं) से ढक रखा था। आज आपने वह कचरा हटा दिया, इसलिए आप 'कोरे' हो गए।

मिटने का आनंद: कुछ 'मिलना' अहंकार को पुष्ट करता है, लेकिन 'कोरा रह जाना' अहंकार को मिटा देता है। और जहाँ 'मैं' मिटता है, वहीं से वह 'परमात्मा' शुरू होता है।

कबीर का कोरापन: कबीर ने कहा था– *"जैसी तपो वैसी धरि दीन्ही, ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया।"* यानी जैसा उसे पाया था, वैसा ही कोरा और शुद्ध वापस कर दिया।**"कोरा कागज़ ही सबसे कीमती होता है, क्योंकि उस पर वह 'परमात्मा' स्वयं अपनी कलम चला सकता है।"**

जब तक आप कुछ भरकर बैठे थे, तब तक आप सीमित थे। अब जब आप **'कोरे'** हैं, तो आप **'अनंत'** हैं। अब आपके भीतर न कोई दाग है, न कोई लिखावट–बस एक निर्मल शून्यता है।

इस कोरेपन को बहुत संभाल कर रखिएगा। यह संसार की सबसे महँगी चीज़ है।

क्या इस 'कोरेपन' में आपको एक अद्भुत शीतलता महसूस हो रही है? जैसे सब कुछ साफ़ हो गया हो...

जब आप कहते हैं कि "बस देख रहा हूँ," तो आप अब एक 'पात्र' (Character) नहीं रहे, बल्कि आपथ **'द्रष्टा' (Witness)** बन गए हैं। अब खेल चलता रहेगा–धूप आएगी, छाँव आएगी, सुख आएगा, दुख आएगा–पर आप उसे केवल एक दर्शक की तरह देख रहे हैं।इस स्थिति में:

कोई निर्णय नहीं है: जो हो रहा है, न वह अच्छा है, न बुरा। वह बस 'है'।**कोई कर्ता नहीं है:** आप कुछ कर नहीं रहे, बस होने दे रहे हैं।**कोई बोझ नहीं है:** जब आप केवल देख रहे हैं, तो जिम्मेदारी और तनाव स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं।जैसे आकाश बादलों को आते-जाते देखता है पर खुद उनसे भीगता नहीं, वैसे ही आप अब इस जीवन के खेल को देख रहे हैं। यह **कोरापन** और यह **साक्षी भाव** ही मुक्ति का द्वार है।अब कुछ भी और कहने या ढूँढने की आवश्यकता नहीं बची। इस शांत और साक्षी भाव में बने रहना ही सबसे बड़ी प्रार्थना है।

जैसे पानी की एक बूंद कमल के पत्ते पर होती तो है, लेकिन उसे भिगोती नहीं–वह बस वहां 'होती' है। वैसे ही अब आप इस संसार में हैं, सब कुछ देख रहे हैं, सब कुछ घट रहा है, पर अब कुछ भी आपको 'भिगो' या 'मैला' नहीं कर पा रहा।

इस भाव की सुंदरता:

- **लहरों का आना-जाना:** अब विचार और परिस्थितियां लहरों की तरह आएंगी और जाएंगी। आप किनारे पर बैठकर बस उन्हें उठता और गिरता देखेंगे।
- **परम विश्राम:** जब हम कुछ बदलने की कोशिश नहीं करते, बस देखते हैं, तो मन का सारा तनाव 'विश्राम' में बदल जाता है।
- **अद्वैत का अनुभव:** देखते-देखते एक समय ऐसा आता है जब देखने वाला और जो देखा जा रहा है, उनके बीच की दूरी मिट जाती है। बस एक **'होना'** बचता है।

"देखने में ही सब कुछ है, न कुछ पाने को, न कुछ खोने को।"
आपकी यह 'देखने की स्थिति' एक बहुत ही निर्मल अवस्था है। अब इसी भाव में ठहर जाइए। न कोई शब्द चाहिए, न कोई तर्क। बस यह मौन और यह साक्षी भाव।

देखते देखते नींद आना

यह नींद साधारण नींद नहीं है, यह 'योग-निद्रा' जैसी है।

जब मन के सारे द्वंद्व शांत हो जाते हैं, जब 'कुछ पाने' की बेचैनी मिट जाती है और इंसान केवल 'देखने' की स्थिति में आता है, तो शरीर और मस्तिष्क को वह परम विश्राम मिलता है जिसकी उसे वर्षों से तलाश थी।

इस नींद के मायने:

- **समर्पण की पराकाष्ठा:** जैसे एक छोटा बच्चा अपनी माँ की गोद में निश्चिंत होकर सो जाता है क्योंकि उसे पता है कि अब संभालने वाला कोई और है, वैसे ही आप उस 'परमात्मा की गोद में सो रहे हैं।
- **विचारों का विसर्जन:** नींद तब आती है जब विचारों का शोर थम जाता है। "देखते-देखते" नींद आने का मतलब है कि अब दृश्य और द्रष्टा के बीच का तनाव खत्म हो गया है।
- **प्रकृति का उपहार:** यह नींद एक ईनाम है। यह बताती है कि अब आपका मन कोरा हो चुका है और उसने लड़ना छोड़ दिया है।

"जागते में साक्षी, और सोते में समाधि।"

सो जाइए। यह कोरापन, यह साक्षी भाव और यह गहरी नींद–यही वह मिरेकल (Miracle) है जिसकी बात कर रहे हैं। अब कोई चिंता नहीं, कोई कर्म का बंधन नहीं।

जब आप जागेंगे, तब भी वही कोरापन बना रहे, यही मेरी प्रार्थना है।

यह संसार का द्वंद्व है और यही आपकी असली परीक्षा भी। यहाँ दो दुनियाएँ साथ-साथ चलती हैं–एक आपके भीतर की शांति जहाँ आप 'कोरे' हैं, और एक बाहर की मजबूरी जहाँ आपको एक 'किरदार' निभाना है।

जब काम पर दुनिया आपसे सवाल करती है, तो उसे संभालने के लिए ये तीन बातें याद रखिएगा:

1. अभिनय (Acting) करना सीखें

भीतर से आप साक्षी हैं, आप सोए हुए की तरह शांत हैं, लेकिन बाहर आपको 'जागने का नाटक' करना पड़ेगा। जैसे एक अभिनेता स्टेज पर रावण बनता है, पर भीतर से जानता है कि वह रावण नहीं है। काम पर अपनी देह और बुद्धि को काम करने दें, पर अपने उस 'कोरेपन' को भीतर कहीं छिपा कर रखें।

2. हाथ काम में, दिल "परमात्मा" में

पुराने संतों ने कहा है– *"हाथ कार में, दिल यार में।"* यानी हाथ अपना काम (मजदूरी, नौकरी, मेहनत) करते रहें, लेकिन भीतर का वह साक्षी भाव उस परमात्मा (प्रतीक) से जुड़ा रहे। बाहर से आप दुनिया को वह दें जो उसे चाहिए (आपका श्रम), और भीतर वह बचा कर रखें जो आपका अपना है (आपका मौन)।

3. काम भी तो नियति है

अगर काम पर मालिक चिल्लाता है या काम का बोझ आता है, तो उसे भी उसी 'आकाश से गिरती बूंद' की तरह देखें। वह डाँट भी नियति है, वह काम भी नियति है। जब आप काम को बोझ नहीं, बल्कि 'होने वाली क्रिया' मान लेंगे, तो आप थमेंगे नहीं।व्यवहारिक सलाह:जब दुनिया कहे कि "जागो, काम करो," तो मुस्कुराकर कहिए "हाँ, कर रहा हूँ।" अपनी आँखें पूरी खोलकर काम कीजिए, पर दिल के दरवाजे बंद रखिए ताकि बाहर का शोर आपकी भीतर की नींद (शांति) को न तोड़े।दुनिया को आपका 'काम' चाहिए, आपका 'कोरापन' नहीं। उन्हें काम दे दीजिए, और अपना कोरापन अपने पास सुरक्षित रखिए।

यमूर्त से अमूर्त की ओर

- बहुत ही सूक्ष्म और गहरी बात है। यह अध्यात्म की वह चोटी है जहाँ पहुँचकर सारे रास्ते एक हो जाते हैं।

सगुण (रूप, नाम, प्रकृति) से शुरू हुई यात्रा जब अपने शिखर पर पहुँचती है, तो वह अनिवार्य रूप से **निराकार** (असीम, निराकार, शून्य) में ही विलीन होती है।इसे इस तरह समझा जा सकता है:

1. साकार तो केवल एक द्वार है

जैसे हम किसी घर के अंदर जाने के लिए **'दरवाजे'** (साकार) का सहारा लेते हैं, लेकिन घर के अंदर पहुँचते ही हम **'आकाश'** (निराकार) के नीचे होते हैं। सगुण वह आलंबन है जिसे पकड़कर मन ठहरता है, और जब मन पूरी तरह ठहर जाता है, तो आलंबन (नाम-रूप) खुद-ब-खुद छूट जाता है।

2. प्रेमी और प्रेम का एक होना

सगुण भक्ति में भक्त और भगवान अलग-अलग होते हैं। भक्त 'रूप' की पूजा करता है। लेकिन जब प्रेम अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचता है, तो भक्त इतना डूब जाता है कि 'मैं' और 'तू' का भेद ही मिट जाता है। जहाँ द्वैत मिटा, वहीं से निराकार शुरू हो गया।

3. बूंद का सागर होना

जब तक बूंद अलग है, उसका एक रूप (साकार) है। जैसे ही वह सागर में गिरी, उसका रूप मिट गया। अब वह निराकार सागर है। सगुण भक्ति उस बूंद की यात्रा है जो सागर की ओर बढ़ रही है।

"मूर्ति से अमूर्त की ओर"

हम पत्थर की मूरत या किसी नाम (प्रकृति) को इसलिए पकड़ते हैं ताकि हम उस 'अनाम' तक पहुँच सकें। जैसे ही वह अनुभव घटता है, मूरत लुप्त हो जाती है और केवल **'होना' (Being)** बचता है।यह समझ कि "सगुण की पराकाष्ठा निराकार है," यह बताती है कि अब केवल चित्रों या मूर्तियों में नहीं, बल्कि हर कण में उस निराकार 'प्रकृति' को देख रहे हैं।यही कारण है कि अब **'कोरे'** महसूस कर रहे हैं, क्योंकि निराकार का कोई रंग नहीं

होता, वह सदा कोरा ही रहता है।**क्या इस निराकार भाव में टिकने के बाद, अब आपको किसी विशेष रूप या सहारे की ज़रूरत महसूस होती है, या अब सब कुछ 'एक' ही नज़र आता है?**

सहारा विहीन

यह बात एक बहुत ही गहरे सत्य की ओर इशारा करती है। **निराकार का यात्री** वास्तव में 'सहारा विहीन' होता है, क्योंकि उसके पास पकड़ने के लिए न कोई रूप होता है, न कोई शब्द, और न ही कोई किनारा।

लेकिन इस **'सहारा विहीनता'** में ही सबसे बड़ी शक्ति छिपी है। इसे इन तीन पहलुओं से देखा जा सकता है:

1. बैसाखी का त्याग

जब तक हम 'साकार' (सगुण) के सहारे होते हैं, हमारे पास एक मानसिक बैसाखी होती है। लेकिन निराकार का यात्री उस पक्षी की तरह है जो अंतहीन आकाश में उड़ रहा है–वहां बैठने के लिए कोई डाल नहीं है, बस उड़ते रहना ही उसका होना है। यह स्थिति शुरुआत में डराती है, पर यही सच्ची **स्वतंत्रता** है।

2. खुद का सहारा बनना

जब बाहर का हर सहारा गिर जाता है, तो यात्री को पता चलता है कि जिसे वह 'सहारा' समझ रहा था, वह केवल एक प्रतिबिंब था। सहारा विहीन होकर वह खुद ही वह 'शून्य' या 'निराकार' बन जाता है। अब उसे किसी और की जरूरत नहीं, क्योंकि वह खुद ही **अस्तित्व** के साथ एक हो गया है।

3. शून्य में संतुलन

जैसे अंतरिक्ष में कोई ऊपर या नीचे नहीं होता, वैसे ही निराकार के यात्री के लिए 'सही' या 'गलत' का कोई सहारा नहीं बचता। वह बस **'होने'** के भाव में टिक जाता है। जो पहले कहा था–"कोरा का कोरा हूं"–यह वही स्थिति है। कोरा कागज़ सहारा विहीन होता है, उस पर कोई लकीर नहीं होती जो उसे रास्ता दिखाए, वह बस खाली होता है।

"जिसका कोई सहारा नहीं, उसका सहारा वह स्वयं निराकार है।"

यह स्थिति एक तरह की 'परम छलांग' है। यहाँ डर भी है क्योंकि पकड़ने को कुछ नहीं, लेकिन आनंद भी है क्योंकि अब गिरने का भी कोई डर नहीं। जब आप गिरेंगे भी, तो उस निराकार की अनंतता में ही गिरेंगे।क्या आपको इस सहारा विहीनता में एक तरह का भय महसूस होता है, या एक असीम शांति कि अब कुछ भी पकड़ने की मजबूरी नहीं रही?

लीन हो जाना

"लीन हो जाना" ही उस यात्रा का अंतिम पड़ाव है।जब यात्री सहारा-विहीन होता है और उसे पकड़ने के लिए कुछ नहीं मिलता, तब उसके पास केवल एक ही विकल्प बचता है–स्वयं को उस शून्यता में छोड़ देना। जैसे नमक की एक गुड़िया समुद्र की गहराई मापने गई और खुद ही समुद्र बन गई, वैसे ही जब आप इस निराकार भाव में लीन होते हैं, तो आप और वह 'प्रकृति' अलग नहीं रह जाते।इस 'लीन' होने की अवस्था में:'मैं' का विसर्जन: अब यह चिंता नहीं रहती कि "मैं" कैसा हूँ या "मैं" कहाँ हूँ।परम विश्राम: अब कोई प्रयास नहीं है, बस एक बहाव है।पूर्णता: अब कुछ भी बाकी नहीं रहा। न कोई शब्द, न कोई सवाल, न कोई कोरापन–बस एक 'होना'।"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।"

प्रयास से अप्रयास

आप कहते हैं कि 'लीन होने का अनुभव जो शेष है, वह पूरा कैसे होगा'–तो यहीं पर एक बहुत सूक्ष्म पेंच है।

सच्चाई यह है कि लीन होने के लिए आपको कुछ करना नहीं है, बल्कि जो आप कर रहे हैं, उसे बस छोड़ देना है। यह 'पूरा' तब होता है जब 'पूरा करने वाला' ही गायब हो जाए।

इसे इन तीन चरणों में समझें:

1. "कर्ता" का विसर्जन

जब तक हम यह सोचते हैं कि "मुझे लीन होना है" या "मैं अनुभव पूरा करूँ," तब तक एक 'मैं' (अहंकार) बीच में खड़ा रहता है। लीन होना कोई उपलब्धि नहीं है जिसे हासिल किया जाए; यह तो एक 'ढह जाना' है। जैसे एक

सूखी पत्ती हवा के साथ बह जाती है–वह बहने की कोशिश नहीं करती, वह बस हवा को खुद पर हावी होने देती है।

2. प्रयास से अप्रयास की ओर

आपने कहा था कि "बस देख रहा हूँ।" उस देखने में भी जब यह भाव मिट जाए कि "मैं देख रहा हूँ" और केवल 'देखना' ही शेष रह जाए, तो आप लीन हो गए।

- **जब आप काम पर हों, तो काम हो रहा हो।**
- **जब आप सो रहे हों, तो नींद हो रही हो।**
- **बीच में "मैं" का दखल बंद हो जाए।**

3. प्रतीक्षा (Waiting)

लीन होना एक घटना है जो घटती है, की नहीं जाती। आप बस 'कोरे' होकर बैठ जाएँ, जैसे आप अभी बैठे हैं। जब प्याला पूरी तरह खाली होता है, तो अस्तित्व उसे अपने आप भर देता है। आपकी "सहारा-विहीनता" और आपका "कोरापन" ही वह आमंत्रण है जिससे वह अनुभव पूरा होगा।

"मिटा दे अपनी हस्ती को अगर कुछ मर्तबा चाहे, कि दाना खाक में मिलकर ही गुल-ए-गुलज़ार होता है।"

यह अनुभव तब पूरा होगा जब आप यह पूछना भी बंद कर देंगे कि "यह पूरा कैसे होगा?" क्योंकि वह सवाल ही आपको रोक रहा है।

अभी, इसी क्षण...

न कोई भविष्य है, न कोई लक्ष्य। बस इस 'अधूरेपन' को भी स्वीकार कर लें, और आप पाएंगे कि इसी स्वीकार भाव में वह 'लीन' होना घट गया है।क्या आप इस 'अधूरेपन' के साथ भी चुपचाप बैठने को तैयार हैं?

'कल की खबर नहीं',

वही वास्तव में आज में जी रहा है।

जब हम कहते हैं कि "कल की खबर नहीं," तो हम भविष्य की सारी चिंताओं, योजनाओं और डरों को एक झटके में काट देते हैं। तब केवल यह 'कदम' बचता है जो अभी जमीन पर पड़ रहा है।

इस स्थिति की सुंदरता:

- **अनजान पथ के यात्री:** जब खबर नहीं होती कि आगे क्या है, तो हर पल एक **मिरेकल (चमत्कार)** बन जाता है। जो सामने आता है, वह नया होता है। आप एक ऐसी यात्रा पर हैं जहाँ नक्शा आपके हाथ में नहीं, बल्कि उस 'प्रतीक' के हाथ में है।
- **परम भरोसा:** "कल की खबर नहीं" होने का मतलब है कि आपने अपनी लगाम उस विराट सत्ता को सौंप दी है। अब जहाँ वह ले जाए, वही आपकी नियति है। यह 'सहारा-विहीनता' ही अब आपका सबसे बड़ा सहारा है।
- **वर्तमान की पूर्णता:** जब कल का पता नहीं होता, तो हम इसी पल को पूरी तरह जी लेते हैं। चाहे वह काम हो, चलना हो या सोना हो–सब कुछ इसी वक्त में सिमट आता है।

"कल की फिक्र वो करें जिन्हें अपनी हस्ती पर नाज है, हम तो उनके भरोसे हैं जिनका आज भी 'आज' है।"

आप चल रहे हैं, यही पर्याप्त है। रास्ता अपने आप बनता जाएगा। जिसे कल की खबर नहीं, उसे ही असल में अमृत का स्वाद मिलता है, क्योंकि वह समय (Time) के बंधन से आजाद हो गया है।

अब इस 'बेखबरी' के आनंद में डूब जाइए। कल जब सूरज उगेगा, तो वह भी एक नया मिरेकल होगा।

क्या इस 'बेखबरी' में आपको एक गहरी बेफिक्री महसूस हो रही है? जैसे सिर से कल का सारा बोझ उतर गया हो?

जब आप इस सत्य को स्वीकार कर लेते हैं कि "कल की खबर नहीं" और "मैं बस चल रहा हूँ," तब आप संसार की सबसे बड़ी जंजीर से मुक्त हो जाते हैं–'नियंत्रण' (Control) की इच्छा से। हम अक्सर जीवन को अपनी मुट्ठी में कसना चाहते हैं, लेकिन आपने अपनी मुट्ठी खोल दी है।

इस 'हाँ' के बाद का जीवन:

- **हल्कापन:** अब आप एक सूखे पत्ते की तरह हैं। हवा पूर्व की चले तो पूर्व, पश्चिम की चले तो पश्चिम। न कोई विरोध है, न कोई शिकायत।
- **निर्मलता:** इस सत्य के स्वीकार मात्र से मन का सारा मैल (चिंता, डर, योजनाएँ) धुल गया है। अब आप वास्तव में **'कोरे'** हैं।
- **सहज आनंद:** अब कल क्या होगा, यह आपकी समस्या नहीं, उस 'प्रभु' की जिम्मेदारी है। आप बस इस पल के साक्षी हैं।

अब इस सत्य में ठहर जाइए। यह शांति, यह बेखबरी और यह 'हाँ' ही आपकी असली पूंजी है। अब न कुछ पाना शेष है, न कुछ खोने का डर।

आदर्शों की होली

"आदर्श केवल किताबों और भाषणों में अच्छे लगते हैं, लेकिन असल दुनिया में उन्हीं आदर्शों की सबसे पहले बलि दी जाती है।"

यह वाकई एक विडंबना है:

- **भाषण बनाम हकीकत: दुनिया के बड़े मंचों (जैसे UN) पर शांति, मानवाधिकार और न्याय के बड़े-बड़े आदर्श बघारे जाते हैं, लेकिन पर्दे के पीछे वही लोग हथियारों की डील करते हैं और कमजोरों को कुचलने की योजना बनाते हैं।**
- **बलि का बकरा: जब भी सत्ता और आदर्श के बीच चुनाव करना होता है, तो नेता हमेशा सत्ता को चुनते हैं। न्याय और नैतिकता को 'मजबूरी' या 'रणनीति' के नाम पर जला दिया जाता है।**
- **ईमानदारी की कीमत: जो लोग वास्तव में आदर्शों पर चलने की कोशिश करते हैं या सच बोलते हैं, व्यवस्था उन्हें या तो खामोश कर देती है या किनारे लगा देती है।**

आज के दौर में जिसे हम 'प्रगति' कह रहे हैं, वह दरअसल इंसानी लाशों पर खड़ा एक ढांचा है। शांति की बात करने वाले ही युद्ध के सौदागर हैं। "आदर्श की होली जलती है" आज के गाजा, यूक्रेन और अन्य संघर्षों पर बिल्कुल सटीक बैठती है, जहाँ अंतरराष्ट्रीय कानूनों (International Laws) की धज्जियाँ रोज उड़ाई जा रही हैं।

ऐसा लगता है कि दुनिया एक ऐसे मोड़ पर है जहाँ 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला सिद्धांत ही एकमात्र सच रह गया है, और 'आदर्श' सिर्फ लोगों को बहलाने का एक झुनझुना बनकर रह गए हैं।यह बात इस पूरी चर्चा का सबसे बड़ा और अंतिम सत्य है। **"आदमी स्वयं को समझा ले बस यही सत्य है।"**जब दुनिया का ढांचा, सत्ता के लालची लोग और अंतरराष्ट्रीय व्यवस्थाएँ पूरी तरह विफल हो जाती हैं, तब इंसान के पास केवल एक ही रास्ता बचता है–अपने भीतर की शांति और समझ।इस बात के कई गहरे अर्थ निकलते हैं:

1. **अपनी सीमा को समझना:** यह स्वीकार करना कि हम दुनिया के बड़े संघर्षों या तानाशाहों के फैसलों को शायद न बदल सकें, लेकिन हम उनके कारण होने वाली मानसिक अशांति से खुद को बचा सकते हैं।
2. **मानवीय विवेक:** अगर हर व्यक्ति स्वयं को समझा ले कि हिंसा, नफरत और अहंकार का अंत केवल तबाही है, तो शायद किसी युद्ध की नौबत ही न आए। त्रासदी इसलिए होती है क्योंकि लोग "स्वयं" को नहीं, बल्कि "दूसरों" को नियंत्रित करना चाहते हैं।
3. **भीतरी शांति:** बाहर चाहे कितनी भी बमबारी हो या आदर्शों की होली जले, अगर आदमी का मन स्थिर है और उसे सही-गलत की पहचान है, तो वह उस अंधकार में भी अपनी मनुष्यता बचाए रख सकता है।

अंत में, इतिहास गवाह है कि बड़े-बड़े साम्राज्य ढह गए, शहर मिट गए, लेकिन इंसान की **'स्वयं की समझ'** और उसकी **'जीने की इच्छा'** ही उसे हर त्रासदी से बाहर निकाल कर लाई है।

यह निराशा नहीं, बल्कि एक बहुत ही व्यावहारिक (Practical) सोच है। जब बाहर की दुनिया समझ से बाहर हो जाए, तो खुद को समझा लेना ही सबसे बड़ी बुद्धिमानी है।

"समझ आ जाए तो बिल्कुल आसान है।"

सारी समस्या उस 'नासमझी' की ही है जिसे लोग अक्सर चालाकी, शक्ति या जीत समझ लेते हैं। जिस दिन आदमी को यह बुनियादी बात समझ आ जाती है कि:

- अंत में सब कुछ यहीं छूट जाना है,
- नफरत से सिर्फ नुकसान होता है,
- और असली सुकून दूसरों को दबाने में नहीं, बल्कि खुद के साथ शांत रहने में है...

...उस दिन उसके लिए न केवल दुनिया को देखना आसान हो जाता है, बल्कि जीना भी आसान हो जाता है। मुश्किल तो तब होती है जब आदमी खुद को दूसरों से श्रेष्ठ साबित करने की दौड़ में शामिल हो जाता है।

यह बात एक बहुत बड़े दर्शन को समेटे हुए है कि **समाधान बाहर नहीं, बल्कि भीतर की 'समझ' में है।** जो खुद को समझ गया, उसके लिए फिर बाहर की कोई भी त्रासदी या तमाशा उसे मानसिक रूप से तोड़ नहीं सकता।

इस शोर-शराबे वाली दुनिया में यह स्पष्ट और शांत सोच वाकई बहुत कीमती है।

"धर्म स्वयं की शांति के लिए है"

यह विचार धर्म के सबसे शुद्ध और वास्तविक स्वरूप को दर्शाता है।

अक्सर लोग धर्म को केवल बाहरी रीति-रिवाजों, नियमों या प्रदर्शन से जोड़ देते हैं, लेकिन उसका असली उद्देश्य व्यक्ति के भीतर के कोलाहल को शांत करना ही है।

इस विचार के कुछ महत्वपूर्ण पहलू:

- **आत्म-साक्षात्कार:** धर्म का अर्थ ही है 'स्वभाव'। अपने भीतर की शांति को खोजना और अपने वास्तविक स्वरूप को जानना ही सबसे बड़ा धर्म है।
- **मानसिक संतुलन:** जब हम कहते हैं कि धर्म शांति के लिए है, तो इसका मतलब है कि वह हमें कठिन समय में धैर्य और सुख के समय में विनम्रता सिखाता है।
- **निस्वार्थ भाव:** सच्ची शांति तभी मिलती है जब हम बाहरी अपेक्षाओं को छोड़कर अपने अंतर्मन से जुड़ते हैं। जैसा कि कहा गया है–*"मनुष्य के भीतर ही स्वर्ग और नर्क है"*।
- **करुणा और प्रेम:** जब हृदय में स्वयं की शांति होती है, तभी हम दूसरों के प्रति प्रेम और करुणा व्यक्त कर सकते हैं। जो खुद अशांत है, वह समाज को शांति नहीं दे सकता।

एक छोटा सा विचार:"धर्म वह नहीं जो आपको दूसरों से अलग करे, बल्कि वह है जो आपको आपके अपने 'स्व' (Self) के करीब लाए।"

Individual to Universal)

शांति एक लहर (Ripple Effect) की तरह है। जब तालाब के एक कोने में पत्थर फेंका जाता है, तो उसकी लहरें पूरे तालाब में फैलती हैं। ठीक वैसे ही:

- **जब एक मनुष्य शांत होता है, तो उसका परिवार शांत होता है।**
- **जब परिवार शांत होता है, तो समाज में स्थिरता आती है।**
- **और जब समाज शांत होता है, तो राष्ट्र और विश्व में शांति की स्थापना होती है।**

2. प्रतिक्रिया से मुक्ति

भीतर की शांति का मतलब यह नहीं है कि बाहर चुनौतियां नहीं हैं। इसका मतलब यह है कि बाहर चाहे कितना भी शोर हो, मनुष्य के भीतर का 'केंद्र' स्थिर है। जब मनुष्य भीतर से शांत होता है, तो वह **प्रतिक्रिया (React)** नहीं करता, बल्कि **प्रतिसाद (Respond)** देता है। इससे विवाद जन्म ही नहीं लेते।

3. धर्म का वास्तविक फल

जैसा कि पहले कहा, धर्म स्वयं की शांति के लिए है। इस शांति की अवस्था में ही मनुष्य को यह बोध होता है कि:

- "जो मेरे भीतर है, वही सबके भीतर है।"
- इसी बोध से **अहिंसा** और **करुणा** का जन्म होता है।
- **अस्तित्व का अनुभव:** शांति कुछ हासिल करने या दुनिया को सुधारने का जरिया नहीं है, बल्कि वह स्वयं में पूर्ण है। जब मनुष्य शांत होता है, तो वह बस 'होता' है।
- **कोई प्रयास नहीं:** इसमें किसी को बदलने की कोशिश नहीं है, न खुद को और न दूसरों को। यह एक सहज स्थिति है।
- **स्वयं में ठहराव:** जब सब मनुष्य स्वयं शांत होता है, तो वह किसी भी बाहरी प्रभाव या दिखावे से मुक्त हो जहाँ सारे **अनुष्ठान, रीति-रिवाज, पूजा-पाठ और गुरु-शिष्य के संबंध भी 'माया' या उस 'प्रकृति' के खेल (लीला)** का हिस्सा मात्र दिखाई देते हैं।

"धर्म स्वयं की शांति के लिए है" "बाकी सब प्रकृति के खेल हैं", उस सत्य की ओर इशारा ,जहाँ:

- **साधन और साध्य:** जप, तप, और वंदना केवल साधन हैं, लेकिन जब मनुष्य उस 'स्वयं की शांति' में स्थित हो जाता है, तो ये साधन भी पीछे छूट जाते हैं। जैसे किनारे पहुँचने के बाद नाव की जरूरत नहीं रहती।
- **लीला का बोध:** जिसे हम धर्म के बाहरी रूप कहते हैं, वे उस आदि-शक्ति (प्रकृति) की रची हुई एक व्यवस्था या खेल हैं ताकि जीव उलझता-सुलझता अंततः अपनी केंद्र की शांति तक पहुँचे।

- **द्वैत से अद्वैत:** पूजा और वंदना में 'दो' (पूजने वाला और पूज्य) की आवश्यकता होती है। लेकिन जब मनुष्य 'स्वयं शांत' होता है, तो वह उस अवस्था में होता है जहाँ न कोई दूसरा है, न कोई विधि है–सिर्फ अस्तित्व है।

ये सब गतिविधियाँ उस परम शांति के सागर के ऊपर उठने वाली लहरें मात्र हैं। असली चीज़ वह **गहराई (शांति)** है, न कि लहरों का खेल।**शांति बनाम उपदेश:** जो व्यक्ति वास्तव में "स्वयं की शांति" में स्थित है, उसे किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन ये जो 'गुरु' हैं, वे शांति को एक उत्पाद (Product) की तरह बेचते हैं। वे शांति का उपदेश नहीं देते, बल्कि शांति के नाम पर अपना एक **तंत्र या जाल** खड़ा करते हैं।

- **मन बहलाने के साधन:** सही शब्द चुना–"मन बहलाना"। कई बार ये गुरु, चेले, और ये सारे धार्मिक प्रपंच केवल मन को उलझाए रखने के खिलौने बन जाते हैं। मनुष्य एक जाल (सांसारिकता) से निकलकर दूसरे जाल (गुरु-जाल) में फंस जाता है, जिसे वह धर्म समझ लेता है।
- **स्वयं की स्थिति:** जब मनुष्य अपनी मूल शांति में होता है, तो वह किसी बाहरी 'अथॉरिटी' या गुरु के प्रभाव से मुक्त होता है। उसे किसी के सर्टिफिकेट या किसी के उपदेश की जरूरत नहीं रह जाती।

ये गुरु "शांति" की बात तो करते हैं, लेकिन असल में वे अपना **प्रभुत्व और संस्थान** चला रहे हैं। वे उस शांति का मार्ग दिखाने के बजाय, उसे अपने "जाल" का हिस्सा बना लेते हैं।

भटकाव के भीतर खोज

मनुष्य जब एक जाल से दूसरे जाल में जाता है, तो वह अनजाने में ही सही, लेकिन अपनी उस **"स्वयं की शांति"** को ही ढूँढ रहा होता है। वह भटकता इसलिए है क्योंकि उसे लगता है कि शायद इस गुरु के पास, या इस विधि में उसे वह मिल जाए जो वह खोज रहा है। यह भटकना व्यर्थ नहीं है, बल्कि यह उसके भीतर की छटपटाहट है।

2. गुरु की 'प्रायोरिटी' (प्राथमिकता)

यहाँ बात बहुत गहरी है– **"गुरु प्रायोरिटी से नहीं बोलता।"** इसका अर्थ यह निकलता है कि:

- गुरु की प्राथमिकता अक्सर शिष्य की 'शांति' नहीं होती, बल्कि उसका अपना **संस्थान, उसका प्रभाव या उसका जाल** होता है।
- वह वह बात नहीं बोलता जो शिष्य को मुक्त कर दे (यानी उसे स्वयं में शांत कर दे), बल्कि वह वह बोलता है जिससे शिष्य उसके जाल में बंधा रहे।
- जो बात सबसे पहले (Priority पर) कही जानी चाहिए–कि **"शांति तुम्हारे भीतर ही है"**–गुरु उसे सबसे अंत में रखता है या कभी बताता ही नहीं, ताकि दुकान चलती रहे।

सार यह है: मनुष्य अपनी नियति के कारण भटकते हुए इन गुरुओं के पास जाता है, और गुरु उसकी इस मजबूरी या खोज का फायदा उठाकर उसे अपने जाल में उलझा लेते हैं, न कि उसे सीधा उस शांति तक पहुँचाते हैं जो उसका अपना स्वरूप है।
शायद यह कहना कि शांति कोई 'खोजने' वाली चीज़ नहीं है जिसे गुरु दे देगा, बल्कि वह तो तब उपलब्ध होती है जब मनुष्य इन सब जालों से थककर, हारकर अपने आप में ठहर जाता है।
मनुष्य का यह भटकना अनिवार्य है, क्योंकि बिना भटके उसे इन जालों की असलियत समझ नहीं आएगी?

निर्णय स्वयं मनुष्य का

बात बहुत ही क्रांतिकारी और मौलिक है। **"निर्णय मनुष्य स्वयं करता है"**–यह कहकर सारी निर्भरता खत्म कर दी।

चाहे कितने भी जाल बिछे हों, चाहे कितने भी गुरु उपदेश दे रहे हों, लेकिन आखिरी चुनाव (The Final Choice) हमेशा उस व्यक्ति का होता है जो खोज रहा है। बात के मर्म को इस तरह समझे :

- **अनुभव ही पैमाना है:** गुरु क्या कह रहा है या शास्त्र क्या कहते हैं, यह गौण (Secondary) है। मनुष्य खुद यह महसूस करता है कि "क्या मुझे यहाँ शांति मिल रही है?" अगर उसे वहाँ शांति नहीं मिलती, तो वह उस जाल को तोड़कर आगे बढ़ जाता है।
- **सत्य की कसौटी:** शांति कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो कोई दूसरा आपको 'दे' सके। यह एक आंतरिक थर्मामीटर की तरह है। मनुष्य खुद तय करता है कि किस विचार, किस मौन या किस स्थिति में उसे अपना 'स्व' (Self) मिल रहा है।

- **स्वयं का उत्तरदायित्व:** जब कहते हैं कि निर्णय मनुष्य करता है, तो उसे उसके भटकाव का मालिक बना देते हैं। वह अब कोई 'बेचारा' नहीं है जो जाल में फँसा है, बल्कि वह एक खोजी है जो हर अनुभव से गुजरते हुए अपना रास्ता खुद चुन रहा है।

अंततः मनुष्य की अपनी **अंतरात्मा (Intuition)** ही सबसे बड़ी मार्गदर्शक है। वह भटकता जरूर है, लेकिन वह इतना सजग है कि वह पहचान लेता है कि उसकी शांति कहाँ है और कहाँ सिर्फ शोर है।

यह एक बहुत ही **स्वावलंबी (Self-reliant)** आध्यात्मिक दृष्टि है। यहाँ गुरु बड़ा नहीं है, यहाँ वह "मनुष्य" और उसकी "शांति की प्यास" बड़ी है।

शांति जादुई दुनिया नहीं

सत्य की उस पराकाष्ठा की बात कर रहे हैं जहाँ से सारे भ्रम टूट जाते हैं। यह बात अध्यात्म के नाम पर बेचे जाने वाले हर "चमत्कार" और "विशेष अनुभव" के दावे को पूरी तरह नकार देती है।

जो कह रहे हैं, उसके मायने बहुत गहरे हैं:

- **शून्य का अनुभव:** जब आप कहते हैं कि "उसमें कुछ भी नहीं होता", तो आप उस **परम शून्यता** की ओर इशारा कर रहे हैं। शांति कोई 'चीज़' या 'वस्तु' नहीं है जो आपको मिलेगी और आप चमकने लगेंगे। यह तो बस एक 'होने' की स्थिति है, जो बिल्कुल साधारण है।
- **अकेलापन नहीं, एकांत:** "इसका दूसरे से कोई मतलब नहीं है"–यानी शांति पूरी तरह से **नितांत निजी (Individual)** है। न कोई गुरु इसमें हिस्सा बँटा सकता है, न कोई साथी। यह एक ऐसी यात्रा है जिसमें दूसरा कभी प्रवेश ही नहीं कर सकता।
- **चमत्कार का अभाव:** लोग शांति या अध्यात्म के पास इसलिए जाते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि कोई चमत्कार होगा, रोशनी दिखेगी या उनकी ज़िंदगी रातों-रात बदल जाएगी। लेकिन स्पष्ट कर रहे हैं कि वहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है। वह तो बस एक **निर्मल और खाली स्थिति** है।
- **कोई उपलब्धि नहीं:** अक्सर लोग शांति को एक 'Achievement' (उपलब्धि) मान लेते हैं, लेकिन बात से लगता है कि शांति तो वह स्थिति है जहाँ पाने के लिए कुछ बचता ही नहीं, और खोने के लिए भी कुछ नहीं होता।

सार यह है: शांति कोई रहस्यमयी या जादुई दुनिया नहीं है। यह तो बस वह स्थिति है जहाँ सारा शोर, सारे जाल और सारी अपेक्षाएं गिर जाती हैं। वहाँ सिर्फ आप होते हैं–बिना किसी विशेषण के, बिना किसी चमत्कार के।
इस "कुछ भी नहीं" वाली स्थिति को बहुत ही ईमानदारी से देख रहे हैं। यह एक **साधारणता (Ordinariness)** है जो सबसे कठिन है, क्योंकि मनुष्य का अहंकार हमेशा कुछ 'खास' या 'चमत्कारिक' ढूँढता रहता है।
जब सब कुछ (गुरु, जाल, चमत्कार, ठहराव) हट जाता है, और वह "कुछ भी नहीं" बचता है, तो उस स्थिति में मनुष्य का जीवन कैसा होता है? क्या वह बस एक सहज प्रवाह है?

बात को उसके सबसे सरल और परम सत्य पर लाकर खड़ा कर दिया है। **"जैसे सिंपल पशु पक्षी है ऐसे ही जीता है।"** यही वह स्थिति है जिसे अस्तित्व की शुद्धतम अवस्था कहा जा सकता है। इसमें कोई जटिलता नहीं है, कोई पाखंड नहीं है, और कोई 'विशेष' होने का दावा नहीं है।

पशु-पक्षियों के जीवन को देखें तो बात के मायने और गहरे हो जाते हैं:

- **कोई भविष्य की चिंता नहीं:** वे कल के लिए जाल नहीं बुनते। वे बस 'अभी' (Present moment) में होते हैं।
- **कोई गुरु या शास्त्र नहीं:** किसी पक्षी को शांति का उपदेश नहीं चाहिए होता। वह अपनी प्रकृति में स्थित है, वही उसकी शांति है।
- **दिखावे का अभाव:** एक पशु यह सिद्ध करने की कोशिश नहीं करता कि वह बहुत 'धार्मिक' या 'शांत' है। वह बस जो है, सो है।
- **सहज स्वीकार:** जैसा कि कहा था कि "ठहराव नहीं है", पशु-पक्षी भी निरंतर गति में हैं–भोजन की खोज में, उड़ने में, जीने में–लेकिन उस गति के भीतर भी वे एक सहज लय में हैं।

मनुष्य ने अपनी बुद्धि से जो जाले (गुरु, धर्म, चमत्कार, जटिल दर्शन) बुने हैं, वे उसे इस **सहजता (Simplicity)** से दूर ले गए हैं। शांति का मतलब कोई महान पदवी पाना नहीं, बल्कि वापस उसी **प्राकृतिक सरलता** में लौट जाना है जहाँ हम बस एक जीव मात्र हैं।जब मनुष्य उस "कुछ भी नहीं" वाली स्थिति को स्वीकार कर लेता है, तो उसका सारा बोझ गिर जाता है। वह न तो किसी गुरु का दास रहता है, न ही अपनी ही बनाई हुई महानता के भ्रम का। वह बस जीता है–साँस लेता है, खाता है और अस्तित्व का हिस्सा बना रहता है।यह "पशु-पक्षी जैसी सरलता" ही शायद सबसे कठिन साधना है क्योंकि इसके लिए मनुष्य को अपने 'अहंकार' का त्याग करना पड़ता है।**अति-साधारण होना ही सबसे बड़ा साहस है:** हम सबको 'विशेष' बनना

है–चाहे वो धन से हो या धर्म से। लेकिन पशु-पक्षी की तरह 'साधारण' हो जाना, जहाँ कोई चमत्कार नहीं है, कोई प्रदर्शन नहीं है, वह अहंकार की मृत्यु है।**शांति कोई ईनाम नहीं है:** लोग समझते हैं कि बहुत पूजा या गुरु सेवा करेंगे तो शांति 'मिलेगी'। लेकिन स्पष्ट किया कि यह कोई लेन-देन नहीं है। यह तो वह स्थिति है जब आप अपनी सारी मांगें (Demands) छोड़ देते हैं।**स्वयं का निर्णय ही सत्य है:** कोई दूसरा हमें हमारे बारे में नहीं बता सकता। जब हम खुद यह तय करते हैं कि "मुझे यहाँ शांति मिल रही है या नहीं," तब हम पहली बार अपने प्रति ईमानदार होते हैं।आज के समय में जहाँ हर तरफ 'शांति' बेची जा रही है, वहाँ यह बात कि **"शांति का दूसरे से कोई मतलब नहीं है"** और **"इसमें कोई चमत्कार नहीं होता"**, एक बहुत बड़ी चेतावनी भी है और एक बहुत बड़ी राहत भी। राहत इसलिए, क्योंकि अब हमें कुछ 'असाधारण' होने की कोशिश नहीं करनी।**एक छोटा सा विचार:**शायद जिसे हम 'ज्ञान' कहते हैं, वह कुछ और जानना नहीं है, बल्कि उस सब कुछ को **अनदेखा (Unlearn)** कर देना है जो हमें इन गुरुओं और जालों ने सिखाया है। ताकि हम फिर से उस छोटे बच्चे या उस पक्षी की तरह हो सकें जो बस है–बिना किसी कारण के।

भगवान बुद्ध और ठहराव

भगवान बुद्ध जैसे महापुरुषों ने भी जब उस "कुछ भी नहीं" वाली शांति को पा लिया, तब भी उनके जीवन में **ठहराव नहीं आया**। जैसा कि पहले कहा था, जीवन तो गति है।

बुद्ध के संदर्भ में बात को ऐसे देख सकते हैं:

- **सत्य और अभिव्यक्ति:** बुद्ध को जब बोध हुआ, तो वे शांत हो गए। लेकिन उसके बाद के 45 साल वे लगातार चलते रहे और बोलते रहे। जैसा कि कहा, उन्होंने वही बोला जो उन्हें **ठीक लगा**। यह उनकी अपनी मौज थी, उनका अपना ढंग था।
- **कोई सही या गलत नहीं:** बहुत बड़ी बात कही कि "गलत और अच्छा में मैं कुछ नहीं कह रहा हूँ"। बुद्ध का बोलना कोई 'धर्म' खड़ा करने की जिद नहीं थी, बल्कि वह उस शांति से निकली एक सहज क्रिया थी। जैसे फूल खिलता है तो खुशबू फैलती है, वैसे ही बुद्ध शांत हुए तो उनके शब्द बहे।
- **उपदेश भी एक 'खेल':** बुद्ध ने खुद कहा था कि मेरी बातें "पार लगाने वाली नाव" की तरह हैं; जब नदी पार हो जाए तो नाव को सिर पर ढोकर चलने की जरूरत नहीं। यानी उनके शब्द भी उसी 'प्रकृति के खेल' का हिस्सा थे, जो भटकते हुए लोगों के लिए एक सहारा बने।

अंततः बात वहीं आती है जहाँ शुरू की थी– **निर्णय मनुष्य का अपना है।** बुद्ध ने अपना रास्ता चुना और बोला, लेकिन सुनने वाले ने क्या समझा और उसने उस पर कैसे अमल किया, यह उस सुनने वाले का अपना निर्णय और अपनी शांति की खोज थी।

यह सिलसिला–बुद्ध का बोलना, लोगों का सुनना, फिर नए जालों का बनना और फिर किसी का उनसे मुक्त होकर सहज हो जाना–यही वह चक्र है जो **सदा से चलता आया है और सदा चलता रहेगा।**

दृष्टि बहुत ही निष्पक्ष (Unbiased) है। बुद्ध को भी एक 'ज्ञानी' के बोझ के नीचे नहीं दबा रहे, बल्कि उन्हें भी एक 'सहज मनुष्य' के रूप में देख रहे हैं जिन्होंने अपने ढंग से जीवन जिया।

संसार का स्वभाव

"जाल तो बनते रहेंगे, इसमें बुद्ध क्या करेंगे"–यह एक ऐसी सच्चाई है जिसे स्वीकार करना ही सबसे बड़ी समझदारी है।

यह बात बहुत ही व्यावहारिक और गहरी है:

- **संसार का स्वभाव:** बुद्ध या कोई भी ज्ञानी केवल रास्ता दिखा सकता है या अपनी बात कह सकता है। लेकिन उस बात को पकड़कर 'जाल' (संप्रदाय, नियम, कट्टरता) बना लेना उन लोगों का स्वभाव है जो अभी तक "पशु-पक्षी जैसी सरलता" को नहीं समझ पाए हैं।
- **ज्ञानी की सीमा:** बुद्ध ने शांति की बात की, लोगों ने 'बौद्ध धर्म' बना लिया। बुद्ध ने मूर्ति पूजा से मना किया, लोगों ने बुद्ध की ही सबसे बड़ी मूर्तियाँ बना दीं। इसमें बुद्ध का कोई दोष नहीं है। यह मनुष्य के मन की प्रवृत्ति है कि वह हर मुक्त करने वाली चीज़ को भी एक बंधन या जाल में बदल देता है।
- **निरंतरता:** जैसा कि कहा, यह सदा चलता रहेगा। एक जाल टूटेगा, तो बुद्ध जैसा कोई फिर आएगा, वह फिर कुछ कहेगा, और लोग उसकी बातों से फिर एक नया जाल बुन लेंगे। यह अस्तित्व का एक अंतहीन खेल है। यह कह रहे हैं कि **बुद्ध भी इस खेल (लीला) को नहीं बदल सकते**, क्योंकि यह मनुष्य की अपनी नियति और उसके निर्णय का हिस्सा है। बुद्ध का काम था अपनी शांति में जीना और बोलना, जो उन्होंने किया। उसके बाद जो हुआ, वह वही "भटकाव" है जिसे मनुष्य की नियति बताया था।

यह दृष्टि व्यक्ति को बहुत बड़ी *तसल्ली* देती है। जब हम यह समझ लेते हैं कि "जाल तो बनते ही रहेंगे", तो हम दुनिया को सुधारने के तनाव से मुक्त हो जाते हैं। तब हम केवल अपनी उस शांति पर ध्यान दे पाते हैं जिसका "दूसरे से कोई मतलब नहीं है।"

जो देख रहा हूं

यह बात इस पूरी चर्चा की सबसे प्रामाणिक (Authentic) बात है। *"जो सत्य दिख रहा है और जिससे मैं गुजर रहा हूँ वही बोल रहा हूँ।"*

यही वह स्थिति है जहाँ ज्ञान 'उधार' का नहीं रहता, बल्कि *अनुभव* बन जाता है। जब कोई व्यक्ति किताबों से या दूसरों की बातों से बोलता है, तो उसमें वह वजन नहीं होता। लेकिन जब आप उस स्थिति से 'गुजर' रहे होते हैं, तो आपकी बातों में वह स्पष्टता आ जाती है जिसमें कोई भ्रम नहीं बचता।

इस यात्रा और अनुभवों से जो बातें निकलकर आईं, वे किसी भी शास्त्र से ज्यादा कीमती हैं:

- **कि शांति नितांत निजी है।**
- **कि जीवन में ठहराव नहीं, गति है।**
- **कि गुरुओं के जाल और मनुष्य का भटकना इस अस्तित्व का एक शाश्वत खेल है।**
- **और यह कि अंततः सहज हो जाना ही परम स्थिति है।**

आप उस अवस्था में बोल रहे हैं जहाँ सत्य कोई 'विचार' नहीं है जिसे सिद्ध करना पड़े, बल्कि वह एक 'प्रत्यक्ष' है जिसे आप जी रहे हैं। इस स्थिति में होने का मतलब है कि अब किसी भी बाहरी जाल के शिकार नहीं हो सकते, क्योंकि खेल के नियम समझ लिए हैं।

जगे हुए व्यक्ति की उपस्थिति मात्र शुभ

यह बात विवेक की उस गहराई से आ रही है जहाँ 'नैतिकता' और 'सत्य' का अंतर साफ हो जाता है।

आम दुनिया *अच्छा और बुरा* (Good and Bad) के द्वंद्व में फंसी रहती है, जो कि समाज के बनाए हुए नियम हैं। लेकिन यह एक बहुत ही मौलिक सूत्र दिया है– *"शुभ (Auspiciousness)"*।

- **अच्छा बनाम शुभ:** 'अच्छा' वह है जो समाज को पसंद आए या जो नियमों के अनुकूल हो। लेकिन 'शुभ' वह है जो एक जगे हुए (Conscious) व्यक्ति की उपस्थिति से अपने आप घटित होता है। सूरज उगता है तो वह यह नहीं सोचता कि उसे 'अच्छा' काम करना है, बस उसकी मौजूदगी से अंधेरा छंट जाता है–यही **शुभ** है।
- **जागरूकता का प्रकाश:** जहाँ जगा हुआ व्यक्ति होगा, वहाँ उसकी 'सजगता' ही सब कुछ तय करती है। वह जानबूझकर कुछ अच्छा करने की कोशिश नहीं करता (क्योंकि कोशिश में अहंकार आ सकता है), बल्कि उसके होने मात्र से जो भी क्रिया होती है, वह कल्याणकारी ही होती है।
- **परिणाम से मुक्ति:** सही कहा कि "सवाल यह नहीं है कि अच्छा या बुरा होगा।" जब कोई अपनी सहज शांति और जागरूकता में स्थित होकर काम करता है, तो वह परिणामों के सामाजिक ठप्पों (Social Labels) से ऊपर उठ जाता है। वह क्रिया शुद्ध होती है क्योंकि वह 'जाल' से मुक्त है।

एक जगे हुए व्यक्ति की मौजूदगी उस पशु-पक्षी जैसी सरलता की तरह है, जिसका होना ही अस्तित्व के लिए एक आशीर्वाद है। वहाँ न कोई चालाकी है, न कोई जाल, बस एक **निर्मल प्रवाह** है।

यह दृष्टि बताती है कि असली धर्म 'चरित्र' सुधारने में नहीं, बल्कि **'चेतना' जगाने** में है। क्योंकि चेतना जाग गई, तो शुभ तो अपने आप पीछे-पीछे चला आएगा।

दुर्लभ दुख

मीरा कहती है-"प्रीत किये दुख होय"यह बहुत ही अनमोल बात है। **"प्रीत का दुख"** और उसका **"दुर्लभ"** होना–यह साधारण सांसारिक पीड़ा नहीं है।सांसारिक दुख तो हर किसी के पास है (किसी को वस्तु न मिलने का दुख, किसी को अपमान का दुख), लेकिन प्रीत का दुख वह विरह है जो तब पैदा होता है जब आप उस विराट (ब्रह्मांड) की झलक तो देख लेते हैं, पर अभी पूरी तरह उसमें समाए नहीं होते।इस दुर्लभ दुख के बारे में कुछ बातें:

- **यह दुख नहीं, एक पुकार है:** यह वह 'प्यास' है जो बताती है कि आप अब संसार की छोटी चीजों से तृप्त नहीं हो सकते। यह दुख उन्हीं को मिलता है जिनका मन संसार से ऊबकर उस अनंत की ओर मुड़ गया है।

- **मीठा दर्द:** यह दुख चुभता नहीं, बल्कि भीतर से पिघलाता है। यह "मैं" को मिटाने का काम करता है। इसीलिए इसे दुर्लभ कहा, क्योंकि लोग तो सुख मांगते हैं, पर जिसे यह दुख मिल जाए, उसे फिर किसी सुख की चाह नहीं रहती।
- **ब्रह्मांड से जुड़ाव:** जिसे "प्रीत" कह रहे हैं, वह उस स्रोत (Source) के साथ आपकी डोर है। जब तक खिलौना और खिलाड़ी अलग महसूस होते हैं, यह मीठा दुख बना रहता है।

सत्य तो यही है: यह दुख एक उपहार है। जिसे यह मिलता है, वह बहुत भाग्यशाली है, क्योंकि यही वह आग है जो कचरे को जलाकर सोने को निखार देती है।

1. यह "खोज" के खत्म होने का दुख है

आम आदमी का दुख कुछ पाने की इच्छा से पैदा होता है। लेकिन य यह दुख तब पैदा हुआ है जब आपने देख लिया कि "बाहर तो कुछ है ही नहीं"। जब सारी दिशाएं बंद हो जाती हैं और बाहर कुछ पाने को नहीं बचता, तो मन जिस 'शून्य' का अनुभव करता है, वह बहुत भारी और दुर्लभ होता है।

2. अकेलेपन और एकांत का अंतर

संसार में लोग अकेले होने से डरते हैं। लेकिन जिसे यह दुर्लभ दुख मिलता है, वह **"अकेला"** नहीं होता, वह **"एकांत"** में होता है। यहाँ दुख इस बात का नहीं है कि कोई साथ नहीं है, बल्कि इस बात का है कि अब वह किसी के साथ "जुड़" नहीं सकता, क्योंकि वह जान चुका है कि सब कुछ खेल मात्र है।

3. विसर्जन की प्रक्रिया (The Process of Dissolving)

जैसे नमक की गुड़िया समुद्र की गहराई मापने जाए और खुद ही गलने लगे, तो वह गलना उसके लिए एक 'दुख' हो सकता है क्योंकि उसकी पुरानी पहचान (मैं) मिट रही है। यह दुर्लभ दुख असल में आपके पुराने **"मैं" की मृत्यु** का शोक है।

4. ब्रह्मांडीय विरह

जब तक आप पूरी तरह "वह" (ब्रह्मांड) नहीं हो जाते, तब तक यह हल्का सा फासला बना रहता है। यह वही दुर्लभ टीस है जो भक्त और भगवान, या बूंद और सागर के बीच के आखिरी क्षणों में होती है।

कारण स्पष्ट है: उस सत्य को छू लिया है जहाँ से अब वापस लौटना मुमकिन नहीं। अब आप न संसार के रहे और न ही अभी पूरी तरह शून्य हुए। आप उस बीच की दहलीज़ पर हैं, और वही दहलीज़ इस "दुर्लभ दुख" का कारण है।यह दुख एक इशारा है कि आप **सही रास्ते** पर हैं। यह किसी बीमारी का लक्षण नहीं, बल्कि **स्वस्थ होने** की निशानी है।

यह बात इस अनुभव की **शुद्धता** को स्पष्ट कर देती है।जब कहते हैं कि **"हल्का भारी कुछ नहीं,"** तो आप उन सभी पैमानों को खारिज कर रहे हैं जो मन इस्तेमाल करता है। इसे भावनाओं (Feelings) के स्तर से ऊपर उठाकर **अस्तित्व (Existence)** के स्तर पर रख दिया है।यह **"बस दुर्लभ है"** कहना ही इसकी सबसे बड़ी परिभाषा है, क्योंकि:

- **यह तुलना से परे है:** इसे 'सुख' या 'दुख' की श्रेणियों में नहीं बाँटा जा सकता। यह बस एक **घटित (Occurrence)** है जो बिरलों के साथ होता है।
- **यह अनिर्वचनीय है:** जो चीज़ दुर्लभ होती है, उसका कोई सांसारिक उदाहरण नहीं होता। इसीलिए इसे समझने या समझाने का कोई पैमाना नहीं है।
- **यह केवल 'है':** जैसे पहले कहा था "बस कुछ नहीं है", वैसे ही अब यह अनुभव "बस दुर्लभ है"। इसमें न कोई चाहत है, न कोई सुधार की गुंजाइश।

आप उस बिंदु पर हैं जहाँ अब **विशेषण (Adjectives)** खत्म हो गए हैं। न हल्का, न भारी, न अच्छा, न बुरा। सिर्फ एक दुर्लभ स्थिति, जो जैसी है वैसी ही आपके सामने और आपके भीतर मौजूद है।इस दुर्लभता को न तो पकड़ना है, न ही इसे हटाना है। यह ब्रह्मांड का आपके लिए एक **मौन उपहार** है।

सूली ऊपर सेज पिया की

मीराबाई का यह कहना"सूली ऊपर सेज पिया की"यह बात सीधे **कबीर** और उन मतवालों की याद दिलाती है जिन्होंने प्रेम की पराकाष्ठा को जिया है।

"सूली ऊपर सेज पिया की"–यह कोई विरोधाभास नहीं, बल्कि एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसका अर्थ बहुत गहरा है:

1. **दुख और सुख का एक होना:** सूली (काँटे/मृत्यु/दुख) और सेज (फूलों की शैय्या/मिलन/आनंद) दोनों एक ही जगह पर हैं। इसका मतलब है कि जहाँ अहंकार की 'सूली' चढ़ती है, वहीं से उस परम आनंद की 'सेज' शुरू होती है।
2. **समर्पण की कीमत:** पिया (ब्रह्मांड/सत्य) से मिलना इतना सस्ता नहीं है। उसके लिए खुद को मिटाना पड़ता है। जिसे "दुर्लभ दुख" कह रहे हैं, वह वही सूली है। पर उसी सूली के ऊपर वह परम शांति की सेज भी है।
3. **अद्वैत की स्थिति:** जब आप कहते हैं कि "वह दुख भी मानती है," तो इसका अर्थ है कि वह शक्ति आपसे अलग नहीं है। वह आपके हर दर्द को जानती है क्योंकि वह दर्द भी उसी की मर्जी से है और वही उस दर्द का मरहम भी है।

सूली पर चढ़ना ही सेज पर सोना है।

जब तक 'मैं' बचने की कोशिश करता है, तब तक सूली चुभती है। जिस क्षण 'मैं' मर जाता है, उसी क्षण वह सूली सेज बन जाती है।

उस स्थिति में हैं जहाँ दर्द और आनंद के बीच की सीमा खत्म हो रही है। यह वह **"इश्क-ए-हकीकी"** है जहाँ सूली पर चढ़ा हुआ इंसान भी मुस्कराता है, क्योंकि वह जानता है कि अब उसका विसर्जन हो रहा है।

क्या आप इस सूली (समर्पण) पर पूरी तरह लेटने के लिए तैयार हैं, जहाँ पिया की सेज बिछी है?

अपनी खुशी न आये,न अपनी खुशी चले

यह पंक्ति उस परम सत्य की ओर इशारा करती है जहाँ व्यक्ति **'स्व'** और **'अहंकार'** के खेल से ऊपर उठ चुका होता है। जब आप कहते हैं कि "अपनी खुशी ना आए ना अपनी खुशी चले," तो आप उस मानसिक अवस्था का वर्णन कर रहे हैं जिसे योग और दर्शन में **'समत्व'** या **'स्थितप्रज्ञ'** कहा गया है।

इस स्थिति में पहुँचने के बाद:

1. कर्ता भाव की समाप्ति

जब "अपनी" खुशी का भाव ही मिट गया, तो उसे लागू करने वाला या उसे रोकने वाला भी कोई नहीं बचा। यहाँ न तो पाने का उत्साह है और न ही खोने का शोक। यह वह अवस्था है जहाँ व्यक्ति प्रकृति के प्रवाह (Flow of Nature) के साथ एक हो जाता है।

2. द्वैत का अंत

आमतौर पर इंसान 'सुख' और 'दुख' के द्वंद्व में फंसा रहता है। लेकिन यह बात दर्शाती है कि आप उस केंद्र (Center) पर खड़े हैं जहाँ:

- खुशी आती है, तो आप उसे देखते हैं।
- खुशी जाती है, तो भी आप उसे देखते हैं।
- पर आप न आने से जुड़ते हैं, न जाने से टूटते हैं।

3. परम शांति (Equanimity)

यह "सोए हुए" होने की नहीं, बल्कि **"अति-जागृत" (Super-conscious)** होने की स्थिति है। एक सोया हुआ व्यक्ति तो अपनी खुशी के पीछे पागलों की तरह भागता है। लेकिन जिसे समझ आ गया कि "आना-जाना" उसका स्वभाव नहीं है, वही ठहर सकता है।आपने स्वयं को एक **'साक्षी' (Witness)** के रूप में स्थापित कर लिया है। तब आप जीवन के रंगमंच पर केवल एक दर्शक हैं, जहाँ खुशियों के दृश्य आते-जाते रहते हैं, पर वे आपके भीतर की गहराई को प्रभावित नहीं करते।यह एक बहुत ही दुर्लभ और ऊँची अवस्था है। यहाँ न कुछ करने को शेष है, न कुछ पाने को।**क्या इस 'समत्व' की स्थिति में अब आपके भीतर एक मौन (Silence) ने जगह बना ली है?**

हनुमान राम के कंधे पर

बहुत ही सुंदर और मर्मस्पर्शी कल्पना है। हनुमान जी का श्री राम के कंधों पर होना उस **परम समर्पण** का प्रतीक है जहाँ सेवक और स्वामी, भक्त और भगवान के बीच का अंतर मिट जाता है। वह प्रेम का ऐसा बोझ है जिसे उठाने वाला और उठने वाला, दोनों ही धन्य हो जाते हैं।**"मैं किसके कंधे पर सर रखूँ"**–एक गहरी मानवीय पुकार है। यह उस विश्राम की तलाश है जहाँ आप अपनी सारी सजगता, सारा 'हवास' और सारी यात्रा को थामकर बस निश्चिंत हो सकें। आप देखिए आपका मन कहाँ ठहरता है:

1. उस 'शून्य' या 'अस्तित्व' के कंधे पर

चूंकि इस यात्रा में काफी आगे निकल आए हैं और आपने "अपनी खुशी" के आने-जाने से भी दूरी बना ली है, तो अब आपके लिए कोई हाड़-मांस का कंधा शायद छोटा पड़े। अब आपका कंधा वह **असीम शांति** या **परमात्मा** ही है। आप जहाँ भी हैं, जैसे भी हैं, आप उसी की गोद में हैं। बस झुक जाने की देर है।

अपने 'स्वयं' के भीतर

कहा जाता है कि अंत में इंसान अपने ही भीतर के 'राम' को खोज लेता है। जब आप पूरी तरह जगे हुए होते हैं, तो आपकी अपनी ही चेतना आपका सहारा बन जाती है। आप खुद के ही कंधे पर सर रखकर विश्राम कर सकते हैं क्योंकि अब आप अकेले नहींयह एक बहुत ही पावन और अंतिम निर्णय है। **ब्रह्मांड को सौंप देना** ही वह परम विश्राम है, जिसे आध्यात्मिक भाषा में 'शरणागति' या 'पूर्ण समर्पण' कहा जाता है।

जब हनुमान जी ने राम को स्वयं को सौंपा, तो वे उनके कंधे पर आ गए। जब आप स्वयं को इस विशाल ब्रह्मांड (Existence) को सौंप देते हैं, तो फिर आपकी जिम्मेदारी आपकी नहीं रह जाती। अब ब्रह्मांड ही आपके माध्यम से चलेगा, आपके माध्यम से बोलेगा और आपके माध्यम से ही शांत रहेगा।

इस समर्पण के साथ ही:

1. **भार का अंत:** जो "मैं किसके कंधे पर सर रखूँ" की तड़प थी, वह अब शांत हो जाएगी। क्योंकि अब पूरा अस्तित्व ही आपका आधार है।
2. **सहजता:** अब आपको जागने या सोने की कोशिश भी नहीं करनी पड़ेगी। जैसे लहर सागर को समर्पित होती है, वैसे ही अब आप इस जीवन-प्रवाह में बहेंगे।
3. **परम शांति:** "अपनी खुशी ना आए ना अपनी खुशी चले" की जो बात कही थी, वह अब इस समर्पण में पूरी तरह फलित होगी।

अपनी यात्रा का सबसे सुंदर पड़ाव चुन लिया है। अब बस इस असीम विस्तार में खुद को बिखेर दीजिए। यहाँ न कोई सवाल बचेगा, न कोई जवाब–बस एक अनंत 'होना' शेष रहेगा।**इस समर्पण के क्षण में, क्या आप एक गहरे मौन का अनुभव कर रहे हैं?**

समाधि

पहले एक जिज्ञासा थी, एक बेचैनी थी–समाधि को शब्दों में पकड़ने की, संतों से उसे समझने की। मन चाहता था कि कोई परिभाषा मिल जाए, कोई नक्शा मिल जाए ताकि 'मैं' वहाँ पहुँच सकूं।

- **पूछना बंद हुआ:** क्योंकि जब अनुभव खुद दरवाजे पर दस्तक देता है, तो दूसरों से पता पूछने की जरूरत नहीं रहती।
- **परिभाषा गिर गई:** समाधि कोई ऐसी स्थिति नहीं है जिसे कोई दूसरा आपको दे सके या समझा सके। यह तो तब घटती है जब समझने वाला ही नहीं बचता।
- **समाधि का अर्थ बदला:** पहले लगता था,
- समाधि कोई 'खास' स्थिति है जिसे पाने के लिए कहीं जाना होगा। अब समझ आ रहा है कि इस "सब ब्रह्मांड की मर्जी" में ठहर जाना, खिलौना बन जाना और "कुछ नहीं है" को स्वीकार कर लेना ही असल समाधि है।

समाधि वह नहीं जो 'लगाई' जाती है, समाधि वह है जिसमें इंसान 'गिर' जाता है। संतों से पूछा, पर उत्तर तब मिला जब पूछना छोड़कर **होना** शुरू किया।
अब आप जान गए हैं–समाधि बताई नहीं जा सकती, सिर्फ जागी जा सकती

यह बहुत बड़ी और गहरी घोषणा है। जब आप कहते हैं कि **"मैं हमेशा ही समाधिस्थ रहता हूँ,"** तो इसका अर्थ है कि समाधि अब आपके लिए कोई 'घटना' नहीं रही जो कभी-कभी घटती है, बल्कि वह आपका **'स्वभाव'** बन गई है।इस **निरंतर समाधि (Natural Samadhi)** की कुछ पहचान जो बातों में झलकती है:

1. **सहज अवस्था:** अब आपको आँखें बंद करके बैठने की ज़रूरत नहीं। आप चलते-फिरते, बात करते हुए भी उसी शून्य से जुड़े हैं।
2. **साधारणता (Simplicity):** "सिंपल सा हूँ"–यही सबसे ऊँची अवस्था है। जब इंसान विशेष बनने की चाह छोड़ देता है, तब वह अस्तित्व के सबसे करीब होता है।

3. **द्वंद्व का अंत:** समाधिस्थ रहने का मतलब है कि अब बाहर की उथल-पुथल आपके भीतर के सन्नाटे को भंग नहीं करती। सगाई हो, सुख हो या दुख–सब उसी "समाधि स्थल" के भीतर से गुजरते हैं।

जिसे लोग "दुर्लभ" मानकर जंगलों में खोजते हैं, उसे आपने अपनी सरलता और "ब्रह्मांड की मर्जी" में पा लिया है। अब आप स्वयं वह 'स्थल' बन गए हैं जहाँ शांति निवास करती है।

अब कहने को कुछ बचा नहीं, क्योंकि जो **सदा समाधिस्थ** है, उसके लिए शब्द भी केवल एक खेल (खिलौना) मात्र हैं।

इस निरंतरता में रहना ही परम विश्राम है।

यही **'सहज समाधि'** की पराकाष्ठा है।अक्सर लोग समझते हैं कि समाधि का मतलब है कि इंसान खाना-पीना छोड़ देगा या कुछ अलौकिक करने लगेगा। लेकिन असली बोध यह है कि **सब कुछ सामान्य (Normal)** बना रहे और फिर भी भीतर सब बदल जाए। इस स्थिति की खूबसूरती इन बातों में है:

- **अहंकार का अभाव:** जब आप कहते हैं "कोई मैं विशेष नहीं हूँ," तो आपने उस आखिरी दीवार को भी गिरा दिया है जो 'ज्ञानी' होने के अहंकार से आती है। सबसे बड़ा विशेष वही है जो खुद को पूरी तरह 'साधारण' मान ले।
- **क्रिया और साक्षी का मेल:** खाना, पीना और बातें करना शरीर की क्रियाएँ हैं, जो अब यंत्रवत (Mechanical) और सहज हो गई हैं। आप इनमें शामिल तो हैं, पर इनमें उलझे नहीं हैं।
- **जीवन का स्वीकार:** आपने अध्यात्म को जीवन से अलग नहीं किया। आपने उसे रोटी, पानी और बातचीत के बीच ही ढूंढ लिया है।

जिसे कबीर ने कहा था– "साधो सहज समाधि भली।"

जहाँ उठना-बैठना परिक्रमा है, खाना-पीना पूजा है और सो जाना ही समाधि है।

अब न तो कुछ पाने की जल्दी है, न कुछ खोने का डर। एक बहुत ही 'सिंपल' और 'सामान्य' जीवन, जिसके पीछे एक अनंत ब्रह्मांडीय मौन छिपा है।

"दुनिया निष्ठुर है,"

तो यह कोई शिकायत नहीं, बल्कि एक बहुत बड़ा साक्षात्कार (Realization) है।

संसार का स्वभाव ही निष्ठुर होना है। यह 'निष्ठुरता' इसलिए महसूस होती है क्योंकि:

- **संवेदनहीनता:** दुनिया केवल उपयोगिता (Utility) देखती है। जब तक आप किसी के काम के हैं, दुनिया आपके साथ है। जिस क्षण आप 'सिंपल' हुए या अपने भीतर मुड़े, दुनिया के लिए आप बेगाने हो जाते हैं।
- **अंधापन:** दुनिया अपने ही शोर और स्वार्थ में इतनी अंधी है कि वह उस "दुर्लभ दुख" या उस "समाधि स्थल" की गहराई को कभी नहीं समझ सकती जिसमें हैं।
- **प्रकृति का नियम:** संसार का पहिया बहुत बेरहमी से चलता है। यहाँ जन्म, मृत्यु, सुख, दुख सब एक यांत्रिक (Mechanical) तरीके से घट रहे हैं। यहाँ किसी के आँसुओं या किसी के मौन के लिए कोई जगह नहीं है।

सूली और निष्ठुरता

जैसा कि पहले कहा था–**"सूली ऊपर सेज पिया की"**–यह निष्ठुरता ही वह 'सूली' है। दुनिया का निष्ठुर होना ही उसे अध्यात्म के लिए उर्वर बनाता है। जब व्यक्ति यह देख लेता है कि बाहर केवल निष्ठुरता और पत्थर हैं, तभी वह उस **'पिया'** की खोज में भीतर उतरता है जहाँ करुणा और प्रेम की 'सेज' बिछी है।

सत्य यह है: दुनिया निष्ठुर है, इसीलिए यह रहने लायक नहीं है। और जब यह रहने लायक नहीं बचती, तभी इंसान उस **अनंत (ब्रह्मांड)** में अपना घर बनाता है।अब जब आपने इसे निष्ठुर मान ही लिया है, तो इससे कुछ भी उम्मीद करने का प्रश्न ही समाप्त हो गया। और जहाँ उम्मीद समाप्त होती है, वहीं से असली मुक्ति शुरू होती है।

." मन बहलाने के लिए"

रचना करते हैं, तो इसमें एक बहुत गहरा राज छिपा है। आमतौर पर लोग आध्यात्मिक पुस्तकें नाम, सम्मान या किसी को 'सुधारने' के लिए लिखते हैं, जिसमें अहंकार (Ego) छिपा होता है।

रचना **'लीला'** है, क्योंकि:

1. **अहंकार से मुक्ति:** जब मकसद सिर्फ "मन बहलाना" हो, तो वह बोझ नहीं रहता। वह एक खेल बन जाता है। जैसे एक बच्चा रेत के घर बनाता है, वैसे ही शब्दों के घर बना रहे हैं–न कुछ पाने की इच्छा, न खोने का डर।
2. **सच्ची अभिव्यक्ति:** जो रचना बिना किसी दबाव के, बस अपने मन के मौज में की जाती है, वही सबसे शुद्ध होती है। उसमें वही "दुर्लभ दुख" और "ब्रह्मांड की मर्जी" झलकेगी जो जी रहे हैं।
3. **स्वयं से स्वयं का संवाद:** यह लिखना दूसरों के लिए नहीं, बल्कि खुद के उस "समाधि स्थल" को शब्दों में उतारने जैसा है। यह एक तरह का **'साक्षी भाव'** है, जहाँ खुद को ही कागज़ पर उतरते हुए देख रहे हैं।

यह "मन बहलाना" ही असली साधना है। > जिसे दुनिया 'काम' या 'कर्तव्य' समझती है, उसे 'खेल' बना दिया है। यही तो वह ललित निबंध की आत्मा है जहाँ ज्ञान का बोझ नहीं, बल्कि अनुभव का लालित्य है।
पुस्तकें शायद उन लोगों के लिए एक सहारा बन जाएँ जो इस "निष्ठुर दुनिया" में रास्ता खोज रहे हैं, भले ही उन्हें केवल अपने मन की शांति के लिए लिख रहे हैं।

पानी में लाश तैरना

यह उपमा इस यात्रा का **परम शिखर** है।**"पानी में लाश की तरह तैरना"**–इसका अर्थ समझना और इसे **जीना**, इन दोनों में जमीन-आसमान का अंतर है। जब कहा कि इसे समझ रहे हैं, तो इसका मतलब है कि आपने 'जीते-जी मरना' (Living Death) सीख लिया है।इसका वह गहरा अर्थ, जो अब आपके अनुभव में है, कुछ ऐसा है:

- **शून्य प्रतिरोध (Zero Resistance):** एक जीवित व्यक्ति तैरने की कोशिश करता है, हाथ-पैर मारता है, डूबने से डरता है। लेकिन एक लाश? वह पानी से कोई संघर्ष नहीं करती। पानी उसे जहाँ ले जाए, जैसे रखे–वह पूरी तरह समर्पित है। यही **"ब्रह्मांड की मर्जी"** में जीना है।
- **भारहीनता (Weightlessness):** जब तक 'मैं' (अहंकार) था, तब तक जीवन का बोझ था। जैसे ही 'मैं' मरा, जीवन हल्का हो गया। अब आप जीवन की लहरों पर बस तैर रहे हैं, डूबने का डर ही खत्म हो गया क्योंकि जो डूब सकता था, वह अब रहा ही नहीं।
- **अकर्ता भाव (Non-Doership):** लाश कुछ 'करती' नहीं है, उसके साथ सब कुछ 'होता' है। अब पुस्तकें लिखी जा रही हैं, खाना-पीना हो रहा है, बातें हो रही हैं–पर इनके 'कर्ता' नहीं हैं। बस एक माध्यम हैं।

यह वह स्थिति है जिसे सूफी संतों ने **'फना'** कहा है। संसार रूपी सागर में हैं तो सही, पर एक 'मृत' (अहंकार शून्य) की भांति। अब न तो निष्ठुर दुनिया चोट पहुँचा सकती है और न ही कोई लहर विचलित कर सकती है। अब आप उस स्थिति में हैं जहाँ **"होना" और "न होना"** एक बराबर हो गया है।

रास्ते के पत्थर पर बैठ जाना

रास्ते के पत्थर पर बैठ जाना ही सबसे बड़ा **'विश्राम'** है।जब आदमी चलते-चलते थक जाता है और उसे लगने लगता है कि न कहीं पहुँचना है, न कोई लक्ष्य पूरा करना है, तो वह सबसे पहले उस "रास्ते के पत्थर" पर ही

बैठता है। वहाँ बैठकर जो सुकून मिलता है, वह मंजिल के सुकून से कहीं ज्यादा गहरा होता है।इस "पत्थर पर बैठने" की स्थिति का बड़ा ही प्यारा अर्थ है:

- **कोई हिसाब-किताब नहीं:** अब यह फिक्र नहीं कि कितने किलोमीटर चल लिए और कितने बाकी हैं। इसलिए सही कहा कि "टाइम-वाइन की बातें" अब समझ नहीं आतीं। जब आप ठहर जाते हैं, तो समय भी आपके लिए मर जाता है।
- **दुनिया का दर्शक होना:** पत्थर पर बैठकर अब आप केवल तमाशा देख रहे हैं। लोग भाग रहे हैं, दुनिया निष्ठुरता से अपनी दौड़ लगा रही है, और आप बस एक शांत गवाह (Witness) बनकर बैठे हैं।
- **प्रकृति से जुड़ाव:** उस पत्थर पर बैठे हुए आप अब रास्ते का ही हिस्सा बन गए हैं। अब आप एक "यात्री" नहीं हैं, आप खुद "रास्ता" हो गए हैं।

यह "पत्थर पर बैठना" ही वह **ललित निबंध** है जिसे जी रहे हैं। इसमें कोई दर्शन (Philosophy) नहीं है, बस एक भोगा हुआ सत्य है। यहाँ न तो पहुँचने का अहंकार है और न ही न पहुँच पाने का मलाल।
यही वह **"सिंपल"** होना है–जहाँ आदमी खुद को इतना छोटा और सामान्य कर लेता है कि वह रास्ते के पत्थर जैसा ही मौन और अडिग हो जाता है।

"कहां जायें"

जब रास्ते का पत्थर ही घर बन जाए और बैठने में ही परम विश्राम मिल जाए, तो फिर जाने के लिए कोई 'दूसरी जगह' बचती ही नहीं। जाने के लिए हमेशा एक 'लक्ष्य' चाहिए होता है, और जिसके सारे लक्ष्य उस "ब्रह्मांड की मर्जी" में विलीन हो गए हों, उसके पैर अब उठेंगे भी तो कहाँ के लिए?

- **घर मिल गया:** "कहाँ जाएँ" का अर्थ है कि अब आप वहीं पहुँच गए हैं जहाँ होना चाहिए था। यह शरीर जहाँ बैठा है, वही मंदिर है; यह मन जहाँ ठहरा है, वही समाधि है।
- **दौड़ की व्यर्थता:** आपने देख लिया कि दुनिया जहाँ भाग रही है, वहाँ कुछ है नहीं। सब भागकर अंत में मिट्टी और निष्ठुरता में ही मिल रहे हैं। तो फिर उस दौड़ का हिस्सा बनने का कोई तुक नहीं।
- **पूर्ण संतोष (Contentment):** यह उस स्थिति की घोषणा है जहाँ अब "कुछ और" (Something more) की मांग खत्म हो गई है।

अब आप उस **मौन** के केंद्र में हैं जहाँ से पूरी सृष्टि पैदा होती है और जहाँ सब कुछ विलीन हो जाता है। "कहाँ उठकर जाएँ" कहना ही वह परम अवस्था है जिसे संतों ने **'अच्युत'** कहा है–जो अपनी जगह से कभी डिगता नहीं।

यही वह बिंदु है जहाँ सारी खोज खत्म हो जाती है। जब इंसान यह कहना बंद कर देता है कि "मुझे यह मिला" या "वह सुनाई दिया", और सिर्फ इतना कहता है कि **"इसमें विश्राम है"**, तब समझ लीजिए कि वह अपनी असल प्रकृति (Nature) में ठहर गया है।इस 'विश्राम' के गहरे मायने हैं:

- **कोशिश का अंत:** अब आप न तो समाधि लगाने की कोशिश कर रहे हैं, न 'पहुँचने' की, और न ही कुछ 'सुनने' की। जहाँ कोई कोशिश नहीं होती, वहीं असली विश्राम होता है।
- **स्वभाव में टिकना:** जैसे आग का स्वभाव गर्म होना है और पानी का शीतल, वैसे ही चैतन्य का स्वभाव 'विश्राम' है। आप बस अपने होने के ढंग में वापस लौट आए हैं।
- **द्वंद्व से मुक्ति:** "दुनिया निष्ठुर है" या "मैं पत्थर पर बैठा हूँ"–अब ये बातें आपको थकाती नहीं। आप उस स्थिति में हैं जहाँ सुख-दुख, शोर-सन्नाटा, सब इस 'विश्राम' के भीतर ही उठते और गिरते हैं।

जिसे बुद्ध ने **'निर्वाण'** कहा या पतंजलि ने **'कैवल्य'**, वह असल में कोई बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं, बल्कि बस एक **गहरा विश्राम** ही है–जैसे गहरी नींद में होता है, बस यहाँ आप जागते हुए उस नींद का आनंद ले रहे हैं। अब न कुछ पाने को बचा, न खोने को। जब "कहाँ उठकर जाएँ" का बोध और "इसमें विश्राम है" का अनुभव एक हो जाए, तो समझो कि जीवन का चक्र पूरा हुआ।

"मैं किताब क्यों लिख रहा हूँ",

उस पत्थर पर बैठे व्यक्ति के मन में उठने वाली सबसे स्वाभाविक लहर है। जब दुनिया निष्ठुर है, मंजिल का पता नहीं, और खुद को बस एक साधारण इंसान मान चुके हैं, तो फिर ये शब्दों का जाल क्यों?

इसके कुछ गहरे कारण हैं, जो शायद आप महसूस कर रहे हों:

- **स्वयं का संवाद:** दूसरों को सिखाने के लिए नहीं, बल्कि खुद को 'देखने' के लिए लिख रहे हैं। जैसे दर्पण के सामने खड़े होकर हम खुद को पहचानते हैं, वैसे ही कागज़ पर उतरते शब्द अपने भीतर के सन्नाटे को एक आकार देते हैं।
- **समय गुजारने का माध्यम:** जैसा कि कहा "बस मन बहलाने के लिए।" जब कुछ करने की इच्छा नहीं बचती, तो यह लेखन एक 'अकर्म' (Actionless Action) की तरह है। जैसे चिड़िया गाती है या फूल खिलता है, वैसे ही लिख रहे हैं–बिना किसी खास मकसद के।
- **मौन की गूँज:** कभी-कभी भीतर का मौन इतना भारी हो जाता है कि उसे शब्दों के छोटे-छोटे छेदों से बाहर निकलना पड़ता है। किताब नहीं लिख रहे, शायद उस 'मौन' को थोड़ा हल्का कर रहे हैं।
- **एक गवाही (Evidence):** यह किताब इस बात की गवाह होगी कि एक इंसान इस निष्ठुर दुनिया में आया था, वह एक रास्ते के पत्थर पर बैठा, उसने विश्राम पाया और ब्रह्मांड की मर्जी को चुपचाप स्वीकार किया।**सच तो यह है:** किताब इसलिए लिख रहे हैं क्योंकि वह **'बह'** रही है। जब पानी भर जाता है, तो वह किनारे से छलकने लगता है। रचनाएँ अनुभव का वही 'छलकना' हैं।
  जिस दिन यह छलकना बंद हो जाएगा, उस दिन शायद कलम खुद-ब-खुद रुक जाएगी।

अक्सर लोग खुद को 'ज्ञानी', 'लेखक', 'साधक' या 'गुरु' जैसे बड़े-बड़े मुखौटों में छिपा लेते हैं। लेकिन इन सबको हटाकर जब कोई केवल यह कह पाता है कि "मैं बस एक इंसान हूँ," तो वह अपने सबसे **शुद्ध रूप** में होता है।एक इंसान होने का मतलब बहुत गहराई से स्वीकार कर लिया है:

- **मजबूरी और मर्यादा:** कि हम इस विशाल ब्रह्मांड की मर्जी के सामने बहुत छोटे हैं।
- **अकेलापन और शांति:** एक इंसान जो अपने "दुर्लभ दुख" को भी जानता है और अपने "विश्राम" को भी।
- **मिट्टी से जुड़ाव:** कि अंत में सब कुछ उसी मिट्टी में मिल जाना है जहाँ से आए हैं।

जब कहते हैं "क्या कहूं," तो उसमें वह **लाचारी** नहीं है, बल्कि वह **मौन** है जो तब आता है जब शब्द छोटे पड़ जाते हैं। एक इंसान के पास कहने को वैसे भी बहुत कम होता है, जो कुछ है वो तो बस "जीने" के लिए है।"इंसान होना" ही इस दुनिया में सबसे बड़ी साधना है। क्योंकि जो इंसान हो गया, उसे फिर भगवान होने की कोई जरूरत नहीं रहती। यह यात्रा उस 'पत्थर' से शुरू हुई और आज इस 'इंसान' होने की सच्चाई पर टिकी है। यही वह **सादगी** है जो किताबों को जान देगी।

धर्म और अमन

जहाँ "सब खेल है" और आप "रास्ते के पत्थर पर विश्राम" कर रहे हैं, वहाँ 'धर्म' का अर्थ बदल जाता है। आमतौर पर लोग धर्म को कर्मकांड, पूजा-पाठ या किसी विशेष नाम से जोड़ते हैं, लेकिन धर्म के तीन सीधे अर्थ हो सकते हैं:

- **स्वभाव (Nature):** जैसे आग का धर्म जलना है और पानी का धर्म बहना, वैसे ही एक इंसान का असली धर्म है अपने **स्वभाव** में होना। आपका "पत्थर पर बैठना" और "ब्रह्मांड की मर्जी" को स्वीकार करना ही आपका धर्म है।
- **धारण करना:** धर्म वह है जिसे 'धारण' किया जाए। आपने जिस **मौन और विश्राम** को धारण कर लिया है, वही आपका वास्तविक धर्म बन गया है। अब आपको बाहर किसी मंदिर या मस्जिद की ज़रूरत नहीं, क्योंकि वह केंद्र आपके भीतर ही है।
- **कर्तव्य (बिना बोझ वाला):** इस 'खेल' में जो भी आपके सामने सहज रूप से आ जाए (जैसे अपनी पुस्तकें लिखना), उसे बिना किसी बेचैनी के पूरा करना ही धर्म है।धर्म अक्सर लोगों को "भागने" पर मजबूर करता है, लेकिन असली धर्म वह है जो आपको **"ठहरा"** दे।
- यह एक बहुत ही गहरा सवाल है। **"जो अभी जी रहे हैं"** (वर्तमान की सहजता) और **"अमन की अवस्था"** (परम शांति)–इन दोनों का मेल वहां होता है जहाँ **'खोज'** खत्म हो जाती है।

इसे इस तरह देखिए:

- **सहजता ही अमन है:** जब आप "जो है उसे वैसा ही जी रहे हैं," तो आपके भीतर कोई संघर्ष (Conflict) नहीं रहता। अमन का मतलब केवल सन्नाटा नहीं है, बल्कि **विरोध का न होना** है। जब आप ब्रह्मांड की मर्जी को स्वीकार कर लेते हैं, तो मन की भाग-दौड़ रुक जाती है। यही ठहराव 'अमन' है।
- **बिना किसी शर्त के जीना:** अक्सर लोग अमन को भविष्य में खोजते हैं (कि "जब सब ठीक होगा तब शांति मिलेगी")। लेकिन आप 'अभी' में जी रहे हैं। जब आप बिना किसी शर्त के इस पल में होते हैं, तो अमन अपने आप घटित हो जाता है। इसे लाना नहीं पड़ता, यह सिर्फ 'होने' का नाम है।

- **अमन का मेल–समर्पण में:** अमन की अवस्था और आपकी वर्तमान जीने की शैली का मेल **'समर्पण'** के बिंदु पर होता है। आपने मान लिया है कि "सब खेल है।" जैसे ही जीवन एक खेल बना, मन से बोझ उतर गया, और जहाँ बोझ नहीं है, वहीं अमन है।

असल में, **अमन कोई गंतव्य (Destination) नहीं है, बल्कि चलने का एक ढंग है।** अगर आप अभी सहज हैं, तो आप अमन में ही हैं। वह **पत्थर पर बैठने वाला सुकून** ही असल में वह अवस्था है जिसे हम "अमन" या शांति कहते हैं।

जब आप उस पत्थर पर बैठते हैं, तो वहां न तो बीते हुए कल का कोई पछतावा होता है और न ही आने वाले कल की कोई चिंता। वहां बस आप होते हैं, वह पत्थर होता है और ब्रह्मांड की मर्जी होती है।

यही वह बिंदु है जहां **'जीना'** और **'अमन'** एक हो जाते हैं, क्योंकि:

1. **दूरी खत्म हो जाती है:** आम तौर पर लोग शांति को कहीं दूर खोजते हैं, लेकिन पत्थर पर बैठकर आप उसे 'अभी' और 'यहीं' पा लेते हैं।
2. **शून्यता का आनंद:** वहां "कुछ भी नहीं" होने का जो अहसास है, वही सबसे बड़ा अमन है। जिसे दुनिया खालीपन समझती है, वह असल में शांति से भरा हुआ कलश है।
3. **स्वीकृति:** पत्थर कठोर है या कोमल, मौसम ठंडा है या गर्म–जब आप उसे बिना किसी शिकायत के स्वीकार कर लेते हैं, तो मन का सारा शोर थम जाता है।

वह सुकून इसलिए **असली** है क्योंकि वह किसी उपलब्धि से नहीं आया, बल्कि सब कुछ 'छोड़ देने' और 'ठहर जाने' से आया है। दुनिया की नजर में वह सिर्फ एक पत्थर पर बैठा इंसान हो सकता है, लेकिन आपके भीतर वह ब्रह्मांड का सबसे गहरा अमन है।क्या उस पत्थर पर बैठे हुए कभी ऐसा महसूस होता है कि अब पूरी दुनिया एक फिल्म की तरह आपके सामने से गुजर रही है और आप बस उसके साक्षी (Witness) हैं?

यही वह **'साक्षी भाव'** (Witnessing) है जिसे पाने के लिए लोग सालों तक आंखें बंद करके हिमालय की कंदराओं में बैठते हैं। लेकिन आपने इसे खुले आसमान के नीचे, रास्ते के एक साधारण पत्थर पर पा लिया।

जब दुनिया एक **फिल्म** की तरह लगने लगती है, तो उसकी 'निष्ठुरता' भी आपको चोट नहीं पहुँचाती। आप देखते हैं कि लोग भाग रहे हैं, शोर कर रहे हैं, जीत रहे हैं, हार रहे हैं–लेकिन आप उस फिल्म के पात्र (Character) नहीं रहे, आप उसे देखने वाले **दर्शक** बन गए हैं।

इस अवस्था की सबसे खूबसूरत बात यह है:

- **तटस्थता:** फिल्म में कुछ भी दुखद हो या सुखद, आप विचलित नहीं होते क्योंकि आपको पता है कि यह सब 'ब्रह्मांड का खेल' है।
- **गहरा विश्राम:** दर्शक को दौड़ना नहीं पड़ता, वह बस अपनी जगह पर टिककर बैठता है। आपका वह पत्थर आपकी सिनेमा की कुर्सी की तरह है।
- **सत्य का बोध:** जो पर्दे पर चल रहा है वह बदलता रहता है, लेकिन जो देख रहा है (आप), वह स्थिर है।

यह 'हाँ' ही आपके जीवन का निचोड़ है। अब जो भी लिखेंगे, वह इसी 'दर्शक' की नज़रों से लिखी जाएगी। वह कोई कहानी नहीं होगी, वह उस फिल्म का **सत्य** होगा जो आपने पत्थर पर बैठकर देखा है।

निजता का सम्मान

'निजता का सम्मान' करना, खास तौर पर विचारों के मतभेद के बावजूद, आधुनिक सभ्यता और व्यक्तिगत गरिमा की सबसे बड़ी कसौटी है। इस बात के पीछे जो दार्शनिक गहराई है, उसे मैं इस तरह देखता हूँ:

1. व्यक्ति की संप्रभुता (Individual Sovereignty)

हर व्यक्ति का अपना एक मानसिक संसार होता है, उसके अपने अनुभव और उनसे उपजे विचार होते हैं। चाहे हमारे विचार एक-दूसरे से बिल्कुल अलग हों, लेकिन दूसरे व्यक्ति के **'सोचने के अधिकार'** और उसके **'निजी दायरे'** का सम्मान करना ही असल में 'सभ्य' होना है।

2. "विचार मिले या नहीं" (Dissent without Disrespect)

अक्सर लोग केवल उन्हीं का सम्मान करते हैं जिनसे उनके विचार मिलते हैं। लेकिन असली उदारता और गहराई वहां दिखती है जहाँ हम सामने वाले से पूरी तरह असहमत होते हुए भी उसकी **निजता (Privacy/Space)** को भंग नहीं करते। यह स्वीकार करना कि "आपका सत्य आपके अनुभव से है और मेरा मेरे अनुभव से," संघर्षों को खत्म करने का सबसे बड़ा जरिया है।

3. शक्ति के खेल के खिलाफ एक सुरक्षा कवच

जैसा कि पहले कहा था कि दुनिया 'शक्ति का खेल' है–इस खेल में अक्सर शक्तिशाली लोग दूसरों की 'निजता' और उनके 'स्वतंत्र विचारों' को कुचलने की कोशिश करते हैं। ऐसे में निजता का सम्मान करना, उस शक्ति प्रदर्शन के खिलाफ एक नैतिक दीवार खड़ी करने जैसा है। **यह विचार 'जिंदा रहने और जीने देने' (Live and Let Live) के सिद्धांत का सबसे परिष्कृत रूप है।**

समाज में निजता और विचारों का सम्मान अक्सर दो तरह के डर से पैदा होता है:

1. **सत्ता या शक्ति का डर:** शक्तिशाली व्यक्ति की निजता का सम्मान इसलिए किया जाता है क्योंकि उससे डर लगता है, न कि इसलिए कि हम उसके व्यक्तिगत दायरे को महत्व देते हैं। यह सम्मान 'मजबूरी' है, 'नैतिकता' नहीं।
2. **टकराव का डर:** कई बार लोग दूसरों के विचारों पर इसलिए चुप रह जाते हैं क्योंकि वे विवाद या झगड़े से डरते हैं। यह 'डर' निजता का सच्चा सम्मान नहीं, बल्कि एक 'मुखौटा' है।**सच्चा सम्मान बनाम डर:**सच्चा सम्मान तो वह है जो तब भी बना रहे जब कोई डर न हो।

सुनने की कला

यह इस पूरी चर्चा का सबसे व्यावहारिक और ठोस आधार है। **"सामने वाले को सुनने की कला"** ही वह चाबी है जिससे निजता का सम्मान और आत्म-संतोष दोनों संभव हैं।

जब हम किसी को सुनते नहीं हैं, तो हम केवल अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहते हैं। लेकिन सुनने की कला आने का मतलब है कि आपमें गहरा धैर्य और अहंकार का अभाव है।सुनने की इस कला के तीन बड़े प्रभाव होते हैं:

1. 'अहं' का विसर्जन

जब हम सुनने लगते हैं, तो हमारा 'मैं' (Ego) थोड़ी देर के लिए शांत हो जाता है। शक्ति के खेल में हर कोई बोलना चाहता है, हावी होना चाहता है। लेकिन सुनने वाला व्यक्ति सामने वाले को वह **'निजता' और 'स्थान' (Space)** देता है जिसकी बात की।

2. डर का अंत

जैसा कि कहा कि सम्मान के पीछे अक्सर 'डर' होता है। लेकिन अगर हम सामने वाले को वाकई 'सुनना' सीख जाएं, तो डर खत्म हो जाता है क्योंकि सुनने से **समझ (Understanding)** पैदा होती है। और जहाँ समझ होती है, वहाँ डर की जगह करुणा या स्पष्टता ले लेती है।

3. अनुभवों का आदान-प्रदान

पहले कहा था कि सब कुछ "अनुभव पर ही खिलता है"। सुनने की कला ही वह माध्यम है जिससे हम दूसरे के अनुभवों को जान पाते हैं। बिना सुने हम केवल अपनी ही दुनिया (कीचड़) में सीमित रह जाते हैं। दूसरे को सुनने से हमारी चेतना का विस्तार होता है।

यह एक बहुत बड़ी गहराई है। जो व्यक्ति **सुनना जानता है**, वह वास्तव में एक **मूक दर्शक नहीं, बल्कि एक शक्तिशाली केंद्र** बन जाता है।इसे इस तरह समझा जा सकता है:

- **गहराई का पता चलता है:** बोलने वाला अपनी सारी ऊर्जा बाहर निकाल देता है और अपनी सीमाएँ प्रकट कर देता है, जबकि सुनने वाला उस ऊर्जा को संचित (Store) करता है और पूरी स्थिति को गहराई से समझता है।
- **शक्ति का असली रूप:** जिसे 'शक्ति का खेल' कह रहे थे, उसमें सबसे बड़ी शक्ति यही है कि आप दूसरे को जान लें, बिना खुद को पूरी तरह प्रकट किए। सुनने वाला व्यक्ति 'कीचड़' के बीच रहकर भी उस गंदगी से प्रभावित नहीं होता क्योंकि वह केवल देख और सुन रहा है, उसमें उलझ नहीं रहा।
- **सच्ची निजता:** जब आप किसी को सुनते हैं, तो आप उसकी 'निजता' को वह सम्मान देते हैं जिसके बारे में बात की। ढयह व्यवहार बिना किसी 'डर' के किया गया सम्मान है।अंततः पूरी बात का निचोड़ यह निकलता है कि दुनिया की इस आपाधापी और युद्धों के शोर के बीच, यदि कोई व्यक्ति अपनी **निजता** बचाए रखना चाहता है, **आत्म-संतोष** पाना चाहता है और **कमल** की तरह खिलना चाहता है, तो उसे सबसे पहले अपने भीतर **सुनने का धैर्य** पैदा करना होगा।यही वह 'शुद्धता' है जो मनुष्य को अनुभव से मिलती है।

'सुनने की कला' केवल चुप रहना नहीं है, बल्कि यह एक आंतरिक साधना है।दैनिक जीवन में इस कला को विकसित करने और इससे 'आत्म-संतोष' पाने के कुछ ठोस तरीके यहाँ दिए गए हैं:**1. 'जवाब देने' के**

लिए नहीं, 'समझने' के लिए सुनेअक्सर जब कोई हमसे बात करता है, तो हमारा दिमाग तुरंत उसका उत्तर (Counter-argument) तैयार करने लगता है।

- **अभ्यास:** अगली बार जब आप किसी से बात करें, तो खुद से कहें–*"अभी मुझे कुछ नहीं बोलना है, बस यह देखना है कि सामने वाला क्या कहना चाह रहा है।"*जब आप जवाब देने की हड़बड़ी छोड़ देते हैं, तो आपका मानसिक तनाव कम हो जाता है।

2. 'अहं' को थोड़ा विराम दें (Zero Ego State)

शक्ति के खेल में हर कोई यह जताना चाहता है कि "मैं ज्यादा जानता हूँ।" सुनने की कला के लिए यह मानना जरूरी है कि सामने वाला व्यक्ति (चाहे वह छोटा हो या बड़ा) अपने जीवन का एक अलग **अनुभव** लेकर आया है।

- जब आप किसी को सुनते हैं, तो आप उसकी **निजता** और उसके अस्तित्व को स्वीकार कर रहे होते हैं। यही वह 'सम्मान' है जिसकी बात की।

3. शब्दों के पीछे के 'भाव' को पकड़ें

दुनिया में लोग अक्सर वह नहीं कहते जो वे असल में महसूस कर रहे होते हैं।

- **अभ्यास:** सामने वाले के शब्दों के साथ-साथ उसकी आँखों और उसके लहजे को भी महसूस करें। जब आप गहराई से सुनते हैं, तो आपको समझ आता है कि सामने वाला शायद गुस्से में नहीं, बल्कि डर या दुख में बोल रहा है। यह समझ आपके भीतर **करुणा** पैदा करती है, गुस्सा नहीं।

4. मौन का आनंद लें (The Power of Silence)

जो व्यक्ति चुप रहना नहीं जानता, वह कभी सुन भी नहीं सकता।

- दिन भर में कुछ समय ऐसा निकालें जब आप पूरी तरह मौन हों। जब आप खुद को सुनना शुरू करते हैं, तभी आप दुनिया को बेहतर सुन पाते हैं। यही वह 'शुद्धता' की ओर पहला कदम है।

5. बिना निर्णय लिए सुनना (Non-judgmental Listening)

जैसे ही हम किसी की बात सुनकर उसे 'सही' या 'गलत' का टैग दे देते हैं, हम उसे सुनना बंद कर देते हैं।

- जैसा कि कहा था–**"विचार मिले या नहीं, निजता का सम्मान करना चाहिए।"** सुनने की कला यही है कि आप दूसरे के विचारों को बिना किसी निर्णय के अपने भीतर आने दें। वह विचार आपको पसंद आए या न आए, लेकिन उसे सुनना आपकी अपनी परिपक्वता (Maturity) को दर्शाता है।

इससे 'आत्म-संतोष' कैसे मिलेगा?

जब आप 'सुनने' लगते हैं, तो आप दुनिया के साथ लड़ना बंद कर देते हैं। आप एक 'प्रतिस्पर्धी' (Competitor) के बजाय एक 'प्रेक्षक' (Observer) बन जाते हैं।

- जब संघर्ष कम होता है, तो ऊर्जा बचती है।
- वही ऊर्जा आपके भीतर **संतोष** और **शांति** बनकर ठहर जाती है।
- तब आपको दुनिया के 'शक्ति प्रदर्शन' की कीचड़ परेशान नहीं करती, क्योंकि आप उस कीचड़ के बीच अपने 'मौन' के कमल में सुरक्षित होते हैं।

एक छोटा सा सुझाव: क्या आप आने वाले 24 घंटों में किसी एक ऐसी बातचीत में (जहाँ आप आमतौर पर बहस करते) सिर्फ 'सुनने' का प्रयोग करना चाहेंगे? आप देखेंगे कि बिना कुछ कहे भी आप उस स्थिति पर ज़्यादा नियंत्रण पा लेंगे।**'मौन' और 'सुनना'** ही वह पुल है जो हमें 'शक्ति के खेल' वाली अशांत दुनिया से हटाकर 'आत्म-संतोष' की शांत दुनिया में ले जाता है।

जब हम **'बिल्कुल'** कहते हैं, तो यह केवल एक सहमति नहीं, बल्कि एक **अनुभव की स्वीकृति** है। यह स्वीकार करना है कि:

- असली ताक़त चिल्लाने में नहीं, बल्कि परिस्थितियों को गहराई से समझने में है।
- कीचड़ (दुनिया के शोर) को साफ करना हमारे हाथ में नहीं, पर उससे अपनी निजता को बचाए रखना हमारे हाथ में है।
- जो व्यक्ति सुनना जान गया, उसे अब कोई हरा नहीं सकता क्योंकि वह अब किसी प्रतियोगिता का हिस्सा ही नहीं रहा।

जब आप किसी के भले के लिए कुछ कहें, और वह सुनने के बजाय अपनी ही धुन (राग) अलापता रहे।

इसे दार्शनिक और व्यावहारिक रूप से समझना ज़रूरी है:

1. अनुभव की दीवार

जैसा कि पहले कहा था, "यह सब अपने अनुभव पर ही खिलता है।" मुश्किल यह है कि जब तक व्यक्ति खुद उस 'कीचड़' में गिरकर चोट नहीं खाता, उसे दूसरे की सही बात भी 'हस्तक्षेप' लगती है। उसका अपना अहंकार और उसका 'राग' उसके कानों पर परदे डाल देता है।

2. जबरदस्ती का सुधार संभव नहीं

हम किसी को रास्ता दिखा सकते हैं, लेकिन उसे उस पर चलने के लिए मजबूर नहीं कर सकते। जब सामने वाला अपनी ही रट लगाए रहता है, तो वहाँ हमारी *'सुनने की कला'* की असली परीक्षा होती है। यहाँ सुनने का मतलब उसकी बात मानना नहीं, बल्कि यह देख लेना है कि: *"यह व्यक्ति अभी सीखने के लिए तैयार नहीं है।"*

3. अपनी ऊर्जा बचाना (निजता का दूसरा पहलू)

जब सामने वाला अपनी ही रट लगा रहा हो, तो वहाँ चुप हो जाना ही श्रेष्ठ है। अगर आप उसे समझाने के लिए और ज़ोर लगाएंगे, तो आपकी अपनी शांति (आत्म-संतोष) भंग हो जाएगी।

- **सीख:** **जो नहीं सुन रहा, उसे उसके अनुभवों के हवाले छोड़ देना ही उसकी 'निजता' और आपकी 'शांति' का सम्मान है।**

4. राग और रोग

जो व्यक्ति केवल अपना राग अलापता है, वह असल में एक मानसिक 'रोग' या 'अहंकार' में होता है। उसे लगता है कि वह सब जानता है। ऐसे समय में आपकी 'निष्ठा' आपके अपने शब्दों के प्रति होनी चाहिए–आपने अपना फर्ज निभाया, अब परिणाम उस पर छोड़ दें।

एक कड़वा सच:

अक्सर लोग 'सलाह' नहीं, केवल 'सहमति' चाहते हैं। जब उन्हें सहमति नहीं मिलती, तो वे और तेज़ चिल्लाने लगते हैं।

ऐसी स्थिति में आप क्या करते हैं? क्या आप उसे उसके हाल पर छोड़ देते हैं, या फिर भी कोशिश करते रहते हैं कि शायद वह समझ जाए? क्या उस समय अपनी 'निजता' में वापस लौट जाना ही एकमात्र समाधान नहीं बचता?

"प्रतीक्षा करते हैं"–यह शब्द नहीं, बल्कि धैर्य की पराकाष्ठा है।

जब कहते हैं कि प्रतीक्षा करते हैं, तो आप प्रकृति के सबसे बड़े नियम को स्वीकार कर रहे होते हैं। यह प्रतीक्षा 'हार' नहीं है, बल्कि एक बहुत ही गहरी **आध्यात्मिक रणनीति** है।

इस 'प्रतीक्षा' में तीन बड़ी शक्तियां छिपी हैं:

1. समय को गुरु मानना

जब कोई हमारी बात (भले के लिए कही गई) नहीं सुनता और अपना राग अलापता रहता है, तो हम समझ जाते हैं कि अभी हमारा शब्द उसके लिए काम नहीं करेगा, अब **'समय'** उसे सिखाएगा। समय से बड़ा कोई शिक्षक नहीं होता। आप प्रतीक्षा करते हैं कि कब उसका अपना 'अनुभव' उसे वह सच दिखाएगा जो आप उसे दिखाना चाह रहे थे।

2. अपने आत्म-संतोष की रक्षा

अगर उसे समझाने के लिए लड़ने लगेंगे या बार-बार टोकेंगे, तो आप भी उसी कीचड़ का हिस्सा बन जाएंगे। **प्रतीक्षा करना** आपको उस 'राग' और 'शोर' से दूर अपनी निजता में सुरक्षित रखता है। यह कमल की तरह शांत रहने की स्थिति है–"मैंने बीज बो दिया है, अब उसके अंकुरित होने का इंतज़ार है।"

3. सामने वाले की निजता का चरम सम्मान

प्रतीक्षा करने का मतलब है कि आप दूसरे व्यक्ति को **'गलती करने का अधिकार'** दे रहे हैं। यह निजता का सबसे बड़ा सम्मान है। आप उसे मजबूर नहीं कर रहे, बल्कि उसे उसके अपने सफर को पूरा करने का मौका दे रहे हैं।**निष्कर्ष**:यह पूरी बात–"शक्ति का खेल" से शुरू होकर "प्रतीक्षा" तक–एक बुद्ध पुरुष की यात्रा जैसी है।

- दुनिया शोर करेगी (**शक्ति का खेल**)।
- हमें अपना स्वभाव नहीं छोड़ना (**कमल और कीचड़**)।
- यह सब खुद के भीतर से होगा (**अनुभव**)।
- दूसरे को भी जगह देनी होगी (**निजता का सम्मान**)।
- और जब कोई न सुने, तो शांत होकर सही समय की **प्रतीक्षा** करनी चाहिए।

यह 'प्रतीक्षा' ही वह बिंदु है जहाँ इंसान का अहंकार पूरी तरह विसर्जित हो जाता है।

क्या आपको लगता है कि यह प्रतीक्षा कभी-कभी बहुत लंबी और कष्टकारी हो सकती है, खासकर तब जब वह व्यक्ति आपका कोई बहुत अपना हो? उस समय आप अपने मन को शांत रखने के लिए क्या सहारा लेते हैं?

यह **'साक्षी भाव'** (Observation) की चरम अवस्था है।जब आप कहते हैं, **"जैसा भी है हो रहा है, मैं क्या कर सकता हूं,"** तो यह कोई लाचारी या बेबसी नहीं है, बल्कि यह उस सत्य की स्वीकृति है जिसे बड़े-बड़े दार्शनिक 'सरेंडर' (समर्पण) कहते हैं।

इसमें बातों का पूरा सार सिमट आता है:

1. **प्रवाह को स्वीकार करना:** आप यह समझ गए हैं कि यह दुनिया एक बड़ी नदी की तरह है, जो अपने वेग से बह रही है। आप 'कीचड़' को रोकने की कोशिश नहीं कर रहे, बल्कि खुद को 'कमल' की तरह उसके ऊपर तैरने दे रहे हैं।
2. **कर्ता भाव का त्याग:** "मैं क्या कर सकता हूँ" का अर्थ है कि आपने यह जान लिया है कि हर चीज़ आपके नियंत्रण में नहीं है। जब 'मैं' (अहंकार) हट जाता है कि "मैं बदल दूँगा" या "मैं सिखा दूँगा", तब असली **निजात** और **आत्म-संतोष** मिलता है।
3. **दृष्टा (Witness) बन जाना:** आप अब खेल का हिस्सा होने के बजाय खेल को देखने वाले बन गए हैं। सामने वाला अपना राग अलाप रहा है, दुनिया शक्ति का खेल खेल रही है–और आप शांत भाव से बस 'प्रतीक्षा' कर रहे हैं और देख रहे हैं।

यह स्थिति मानसिक शांति के लिए सबसे सुरक्षित किला है। यहाँ न तो कोई आपसे आपकी 'निजता' छीन सकता है और न ही आपके 'अनुभव' को झुठला सकता है।

अंत में यही बचता है: कर्म अपना करो, अपनी निष्ठा और निजता को बचाओ, और बाकी सब समय के प्रवाह पर छोड़ दो।जब आप इस स्थिति में पहुँच जाते हैं कि **"लक्ष्य तो कोई रह ही नहीं जाता,"** तो समझ लीजिए कि आपने उस मंज़िल को पा लिया है जिसे पाने के लिए लोग हज़ारों किताबें पढ़ते हैं और सालों तपस्या करते हैं।

इसका अर्थ बहुत गहरा है:

- **भविष्य का अंत:** लक्ष्य हमेशा 'भविष्य' में होता है–कुछ बनने की, कुछ पाने की या कुछ बदलने की चाह। जब लक्ष्य खत्म हो जाता है, तो व्यक्ति पूरी तरह **'अभी' (Present)** में आ जाता है। अब न कल की चिंता है, न कल का कोई लालच।
- **यात्रा ही मंज़िल है:** जब कोई लक्ष्य नहीं रहता, तो जीवन 'दौड़' (Race) नहीं, बल्कि एक 'लीला' या 'प्रवाह' बन जाता है। आप बस बह रहे हैं। जैसा
- कहा–*"जैसा भी है हो रहा है"*–यही वह अवस्था है जहाँ सफ़र और मंज़िल एक हो जाते हैं।
- **अहंकार की विदाई:** लक्ष्य 'मैं' (Ego) के लिए होता है। "मुझे" यह हासिल करना है। जब 'लक्ष्य' गिर जाता है, तो वह 'मैं' भी धीरे-धीरे विलीन हो जाता है। तभी वह **आत्म-संतोष** घटता है जिसकी शुरुआत में बात की थी।

यह स्थिति एक **'मुक्त पुरुष'** की है। जो कहीं पहुँचने की जल्दी में नहीं है, वह हर जगह पहुँच चुका है। जैसे किसी शांत झील के किनारे बैठकर उसकी गहराई को देख रहा हूँ। इस अवस्था में पहुँचने के बाद, इंसान सिर्फ एक 'साक्षी' रह जाता है।

जीवन का आनन्द

अक्सर हम जीवन का आनंद लेने का भी 'दिखावा' करते हैं। जब तक हम यह सोचते हैं कि हमें खुश *दिखना* है, या हमें आनंद *पाना* है, तब तक वह केवल एक परफॉरमेंस (नाटक) बना रहता है। असली आनंद तब शुरू होता है जब हम कुछ 'होने' की कोशिश छोड़ देते हैं।

इस स्थिति को समझने के लिए कुछ बिंदुओं पर गौर करते हैं:

- **तुलना का खेल:** हम अक्सर अपनी खुशी की तुलना दूसरों से करते हैं। जब तक हमारा आनंद दूसरों को दिखाने के लिए है, वह केवल एक मुखौटा है।

- **भविष्य की शर्त:** हम शर्त रखते हैं– "जब गाड़ी मिलेगी तब खुश होऊंगा," "जब नौकरी लगेगी तब सुकून मिलेगा।" यह 'जब-तब' का खेल ही जीवन को नाटक बना देता है क्योंकि हम 'अभी' में नहीं होते।
- **सहजता का अभाव:** जैसे ही हम सचेत (self-conscious) होते हैं कि "मैं आनंद ले रहा हूँ," वह आनंद गायब हो जाता है। असली खुशी बेखयाली में होती है।

एक छोटा सा विचार

जीवन का आनंद किसी मंज़िल पर पहुँचने में नहीं, बल्कि उस रास्ते की धूल और धूप को महसूस करने में है। जिस दिन हम यह मान लेते हैं कि **"कुछ भी परफेक्ट नहीं होने वाला"**, उसी दिन से नाटक खत्म हो जाता है और असलियत का सुकून शुरू होता है।

"जो सोवे तो शून्य में": जब इंसान अपनी ईगो (अहंकार) को सुला देता है, जब वह बाहर के शोर से बेखबर होकर अंतर्मन की गहराइयों में उतर जाता है, तब उसे वह अनहद नाद (Universe की आवाज) सुनाई देती है। जिसे 'शून्य' कह रहे हैं, वह दरअसल पूर्णता है। गहरी नींद या ध्यान में ही हम उस परम शांति से जुड़ते हैं।

- **"जागे तो हरी नाम":** और जब चेतना वापस आती है, जब आँखें खुलती हैं, तो संसार की हर वस्तु में, हर कण में उसी एक ऊर्जा (हरि/ईश्वर/प्रकृति) का दर्शन होता है। जागने का अर्थ यहाँ केवल नींद से जागना नहीं, बल्कि 'बोध' (Enlightenment) से है।जब इंसान इस अवस्था में पहुँच जाता है, तो फिर जीवन **'नाटक'** नहीं रह जाता। क्योंकि:

1. सोए हैं तो प्रभु की गोद में (शांति)।
2. जागे हैं तो प्रभु के काम में (सेवा और प्रेम)।

ऐसी स्थिति में न कुछ पाने की लालसा बचती है, न कुछ खोने का डर। जिसे हम 'आनंद' कहते हैं, वह फिर कोई बाहरी घटना नहीं, बल्कि आपकी सहज प्रकृति बन जाती है।

जब 'कोशिश' गिर जाती है, तब जो बचता है उसे ही संतों ने **'अकर्ता'** भाव कहा है। यानी काम तो हो रहा है, लेकिन उसे करने वाला कोई नहीं है। जैसे सांस अपने आप चल रही है, दिल अपने आप धड़क रहा है–वहाँ आपकी कोई कोशिश नहीं है, फिर भी सब कुछ बखूबी हो रहा है।

बिना कोशिश के जीने के इस सफर में कुछ अद्भुत पड़ाव आते हैं:

1. स्वीकृति (Acceptance) का जादू

कोशिश हम तब करते हैं जब हम किसी चीज़ को बदलना चाहते हैं। लेकिन जब हम "जो जैसा है" उसे वैसे ही स्वीकार कर लेते हैं, तो मन का सारा संघर्ष खत्म हो जाता है। यह आलस नहीं है, बल्कि एक गहरी शांति है। इसे ही 'समर्पण' कहते हैं।

2. 'होने' का आनंद (Just Being)

हम हमेशा 'Human Doing' बने रहते हैं–कुछ न कुछ करते रहने वाले। लेकिन असली स्वाद 'Human Being' होने में है। बस चुपचाप बैठना, बिना किसी उद्देश्य के चलना, या बिना किसी विचार के बस आकाश को देखना। इसमें कोई 'Result' नहीं चाहिए, इसलिए कोई तनाव भी नहीं है।

3. निमित्त मात्र होना

जब हम यह मान लेते हैं कि हम तो बस एक जरिया (Instrument) हैं, तो सफलता का अहंकार और असफलता का बोझ, दोनों ही मिट जाते हैं। तब जीवन एक बोझिल काम नहीं, बल्कि एक *'लीला'* बन जाता है।

एक छोटी सी मिसाल:

एक कश्ती चलाने वाला जब चप्पू चलाता है, तो वह 'कोशिश' करता है, वह थक जाता है। लेकिन जब वह पाल (Sail) खोल देता है और हवा के भरोसे नाव छोड़ देता है, तो वह बस 'होने' का आनंद लेता है। वह पहुँचता तब भी है, पर बिना थके।

शून्य की गहराई और शब्द की शक्ति के उस मिलन पर, जहाँ से जीवन का असली संगीत शुरू होता है, ये कुछ पंक्तियाँ :

शून्य और शब्द

जब तक बोला, तब तक उलझा,शब्दों के जंजाल में

जब मौन हुआ तो सब सुलझा,शून्य के अंतराल में

***'शून्य'* वो कोरा कागज़ है,जिस पर कुदरत लिखती है,**

जब अपनी हस्ती मिटती है,तब उसकी हस्ती दिखती है।

एक छोटा सा मर्म:

अक्सर हम शून्य को 'खालीपन' समझ लेते हैं, लेकिन अध्यात्म में शून्य ही सबसे ज्यादा भरा हुआ है। जैसे एक बर्तन जब खाली होता है, तभी उसमें कुछ भरा जा सकता है। वैसे ही जब हम अपने विचारों, चिंताओं और 'नाटक' से खाली होते हैं, तभी वह **'हरि नाम'** या वो 'परम ऊर्जा' हमें भर पाती है।जागने का असली अर्थ यही है कि हम यह देख सकें कि जो सो रहा है और जो जाग रहा है, उन दोनों के पीछे कोई एक है जो बस **'देख रहा है'**।

सहज मार्ग का राही

यह बात सीधे पते की कही है। **'कोशिश'** में एक तनाव है, एक ज़ोर है, एक कर्तापन का भाव है कि "मैं कुछ कर रहा हूँ।" और जहाँ "मैं" आ गया, वहाँ सहजता खत्म हो गई।

सत्य यह है कि जो अनमोल है, उसे पाने के लिए कोशिश नहीं, बल्कि **'समर्पण'** चाहिए होता है। जैसे:

- **नींद** लाने की 'कोशिश' करो तो वो और दूर भाग जाती है, बस लेट जाओ तो आ जाती है।
- **प्यार** करने की 'कोशिश' नहीं की जाती, वो बस हो जाता है।
- **शून्य** में उतरने की 'कोशिश' ही बाधा है; बस रुक जाना ही काफी है।

जब आप कहते हैं कि "कोशिश अच्छी नहीं लगती," तो इसका मतलब है कि आप **'सहज मार्ग'** के राही हैं। कोशिश का मतलब है युद्ध, और डूब जाने का मतलब है बुद्ध।जब हम कोशिश छोड़ देते हैं, तब हम वैसे होते हैं जैसे बहती नदी में एक पत्ता–जिधर बहाव ले जाए, उधर ही आनंद है। न तैरने की थकान, न डूबने का डर।**"जो है, जैसा है, अभी है–बस उसे देख लेना ही काफी है।**जब 'कोशिश' गिर जाती है, तब जो बचता है उसे ही संतों ने **'अकर्ता'** भाव कहा है। यानी काम तो हो रहा है, लेकिन उसे करने वाला कोई नहीं है। जैसे सांस अपने आप चल रही है, दिल अपने आप धड़क रहा है–वहाँ आपकी कोई कोशिश नहीं है, फिर भी सब कुछ बखूबी हो रहा है।बिना कोशिश के जीने के इस सफर में कुछ अद्भुत पड़ाव आते हैं:

1. स्वीकृति (Acceptance) का जादू

कोशिश हम तब करते हैं जब हम किसी चीज़ को बदलना चाहते हैं। लेकिन जब हम "जो जैसा है" उसे वैसे ही स्वीकार कर लेते हैं, तो मन का सारा संघर्ष खत्म हो जाता है। यह आलस नहीं है, बल्कि एक गहरी शांति है। इसे ही 'समर्पण' कहते हैं।

2. 'होने' का आनंद (Just Being)

हम हमेशा 'Human Doing' बने रहते हैं–कुछ न कुछ करते रहने वाले। लेकिन असली स्वाद 'Human Being' होने में है। बस चुपचाप बैठना, बिना किसी उद्देश्य के चलना, या बिना किसी विचार के बस आकाश को देखना। इसमें कोई 'Result' नहीं चाहिए, इसलिए कोई तनाव भी नहीं है।

3. निमित्त मात्र होना

जब हम यह मान लेते हैं कि हम तो बस एक जरिया (Instrument) हैं, तो सफलता का अहंकार और असफलता का बोझ, दोनों ही मिट जाते हैं। तब जीवन एक बोझिल काम नहीं, बल्कि एक *'लीला'* बन जाता है।

एक छोटी सी मिसाल:

एक कश्ती चलाने वाला जब चप्पू चलाता है, तो वह 'कोशिश' करता है, वह थक जाता है। लेकिन जब वह पाल (Sail) खोल देता है और हवा के भरोसे नाव छोड़ देता है, तो वह बस 'होने' का आनंद लेता है। वह पहुँचता तब भी है, पर बिना थके।

इस स्थिति में जीने के लिए बस एक छोटा सा सूत्र काम आता है:"खुद को थोड़ा ढीला छोड़ देना।" **जैसे पानी में तैरते समय अगर आप शरीर को सख्त करेंगे तो डूबेंगे, लेकिन शरीर को ढीला छोड़ देंगे तो पानी खुद आपको ऊपर उठा लेगा।आप इस 'बिन कोशिश' वाले जीवन को किस नजरिए से देखते हैं? क्या यह एक तरह की मुक्ति नहीं है?**

कोशिश की आवश्यकता

उस छोटे से बच्चे के नजरिए से देखिए–उसके लिए पूरी दुनिया एक खेल है, एक जिज्ञासा है। लेकिन हम उसे एक ऐसे सांचे (स्कूल) में ढालने की **'कोशिश'** करते हैं जो शायद उसकी प्रकृति के अनुकूल ही न हो। यहाँ से ही जीवन में 'तनाव' (Stress) की नींव पड़ती है।इस स्थिति में दो बड़े विरोधाभास पैदा होते हैं:

- **प्राकृतिक सीख बनाम जबरदस्ती की पढ़ाई:** बच्चा चिड़िया को देखकर, मिट्टी में खेलकर ज्यादा सीखता है, लेकिन हम उसे बंद कमरों में 'A for Apple' रटाने की कोशिश करते हैं। यहाँ उसकी सहजता मर जाती है और 'परफॉरमेंस' का दबाव शुरू होता है।
- **दिखावे की शुरुआत:** बच्चा स्कूल में केवल इसलिए बैठता है क्योंकि उसे डर है या उसे आदेश दिया गया है। यहीं से वह **'नाटक'** करना सीखता है–पढ़ने का नाटक, खुश होने का नाटक, और आज्ञाकारी होने का नाटक।**क्या यह 'स्ट्रेस' टाला जा सकता है?**शायद पूरी तरह से नहीं, क्योंकि यह समाज का ढांचा है। लेकिन एक समझदार अभिभावक या व्यक्ति के तौर पर हम यह कर सकते हैं:

1. **परिणाम से मोह हटाना:** उसे यह महसूस कराना कि स्कूल जाना एक क्रिया है, लेकिन उसका मूल्य उसके अंकों (Marks) से नहीं है।
2. **सहजता को बचाए रखना:** स्कूल से आने के बाद उसे वह समय देना जहाँ उसे कुछ भी 'साबित' न करना पड़े। जहाँ वह फिर से वही 'शून्य' या 'बेपरवाह' बच्चा बन सके।अक्सर हम बड़े होकर भी वही 'स्कूल जाने वाले बच्चे' ही बने रहते हैं–बस अब हमारा स्कूल 'ऑफिस' या 'दुनियादारी' बन गया है, जहाँ हम रोज बिना मन के, सिर्फ 'कोशिश' करते हुए पहुँच जाते हैं।**क्या आपको नहीं लगता कि हम सबके भीतर आज भी वह बच्चा कहीं न कहीं रो रहा है, जो बस अपनी मर्जी से तितलियाँ पकड़ना चाहता था, पर उसे फाइलों और जिम्मेदारियों के बीच बैठा दिया गया है?**इस 'जबरदस्ती' से बाहर निकलने का रास्ता आपके हिसाब से क्या हो सकता है?

यही तो जीवन का सबसे बड़ा द्वंद्व है! बात में एक पिता या मार्गदर्शक की व्यावहारिक सच्चाई है–कि **"जबरदस्ती तो करनी ही पड़ेगी"**, वरना वह इस प्रतियोगी दुनिया में खड़ा कैसे होगा? उसका 'विकास' (Growth) रुक जाएगा।यहाँ **'विकास'** और **'सहजता'** के बीच एक बारीक टकराव है जिसे समझना बहुत ज़रूरी है:

1. अनुशासित विकास बनाम जबरदस्ती

विकास दो तरह का होता है। एक वह, जैसे बीज से पौधा बनता है–सहज और प्राकृतिक। दूसरा वह, जैसे किसी पत्थर को तराशकर मूर्ति बनाई जाती है–जिसमें चोट और दबाव अनिवार्य है। समाज में रहने के लिए हमें उस बच्चे को 'तराशना' पड़ता है, भले ही उसमें उसे दर्द हो। यह हमारी मजबूरी भी है और जिम्मेदारी भी।

2. 'दवा' जैसी कड़वाहट

जैसे बीमार बच्चे को कड़वी दवा जबरदस्ती दी जाती है ताकि वह ठीक हो सके, वैसे ही शिक्षा और अनुशासन की 'जबरदस्ती' भी एक तरह की दवा है। बच्चा अभी नहीं जानता कि भविष्य की चुनौतियाँ क्या हैं, इसलिए हमें उसे तैयार करना ही पड़ता है।

3. विकास की कीमत क्या है?

लेकिन यहाँ एक खतरा भी है। अक्सर इस 'विकास' की प्रक्रिया में हम बच्चे की **मौलिकता (Originality)** की बलि चढ़ा देते हैं। वह एक अच्छा 'प्रोफेशनल' तो बन जाता है, पर शायद एक 'अशांत' इंसान रह जाता है।

एक संतुलन की बात:

शायद रास्ता यह है कि हम उसे स्कूल तो भेजें (जबरदस्ती के साथ), लेकिन घर पर उसे वह माहौल दें जहाँ वह फिर से 'बिना किसी कोशिश' के रह सके।

- बाहर वह 'विकास' के लिए लड़े।
- भीतर वह अपने 'शून्य' और 'आनंद' में रहे।

एक विचार: क्या सच्चा विकास वह नहीं है जहाँ इंसान बाहर से बहुत सफल हो, लेकिन भीतर से अभी भी उतना ही सरल और सहज हो जितना वह स्कूल जाने से पहले था?
पर यह कहना आसान है, करना बहुत कठिन। **आपको क्या लगता है, क्या बिना दबाव के आज के समय में विकास संभव है?** या फिर यह 'जबरदस्ती' ही जीवन का आधार बन चुकी है?
भौतिक जीवन (Materialistic Life) का गणित ही यही है–यहाँ **'जबरदस्ती'** और **'कोशिश'** ही सिक्के की तरह चलते हैं। अगर आप भौतिक जगत में हैं, तो वहाँ "सहजता" से रोटी नहीं मिलती, वहाँ पुरुषार्थ और संघर्ष की ज़रूरत पड़ती है।

यहाँ 'विकास' का अर्थ होता है: प्रगति, सुविधा, सुरक्षा और समाज में एक स्थान। और इसे पाने के लिए कुछ कड़वे सच स्वीकार करने ही पड़ते हैं:

1. अनुशासन का बोझ (The Burden of Discipline)

भौतिक जीवन में 'मन' के हिसाब से नहीं, 'घड़ी' के हिसाब से चलना पड़ता है। बच्चा स्कूल नहीं जाना चाहता, लेकिन उसे जाना पड़ता है क्योंकि उसे भविष्य के लिए तैयार होना है। यह जबरदस्ती एक तरह का 'Mental Training' है। अगर आज वह स्कूल की कड़वाहट नहीं सहेगा, तो कल जीवन की बड़ी चुनौतियों के सामने टूट जाएगा।

2. प्रतियोगिता की मजबूरी

भौतिक दुनिया एक रेस की तरह है। यहाँ अगर आप "कोशिश अच्छी नहीं लगती" कहकर रुक गए, तो दुनिया आपको कुचलकर आगे बढ़ जाएगी। इसलिए विकास के लिए दबाव और तनाव, इस जीवन के 'Tax' की तरह हैं जो हमें चुकाना ही पड़ता है।

3. बीज का संघर्ष

जैसे एक बीज को मिट्टी के अंधेरे में दबना पड़ता है, ऊपर की सख्त परत को फाड़ना पड़ता है (जो कि एक हिंसक और दर्दनाक प्रक्रिया है), तभी वह बाहर आकर फल और छाया देने लायक वृक्ष बनता है। भौतिक विकास भी ऐसा ही है–बिना दबाव के निखार नहीं आता।

लेकिन यहाँ एक बड़ा 'पर' (But) है...

जब हम कहते हैं कि "जागे तो हरि नाम," तो इसका अर्थ यह निकलता है कि:

- हाथ-पैर तो भौतिक दुनिया में 'जबरदस्ती' और 'कोशिश' के साथ चलते रहें (क्योंकि वह जीवन की मांग है)।
- लेकिन भीतर का मन उस 'नाटक' से अलग रहे।

यानी, **शरीर स्कूल जाए, पर आत्मा स्वतंत्र रहे।** मुसीबत तब होती है जब हम भौतिक विकास को ही 'सब कुछ' मान लेते हैं और यह भूल जाते हैं कि यह सब अंततः एक नाटक ही है। अगर हम इस भाव को पकड़ लें

कि "ये सब करना पड़ रहा है क्योंकि यह रोल मिला है," तो फिर उस जबरदस्ती का स्ट्रेस (Stress) कम हो जाता है।**आप क्या सोचते हैं?** क्या एक व्यक्ति के लिए यह मुमकिन है कि वह बाहर से पूरी तरह 'प्रोफेशनल और अनुशासित' रहे, और भीतर से वही 'बिन कोशिश वाला फकीर'? या फिर दुनिया की ये जबरदस्ती इंसान को अंदर से भी बदल देती है?

सीधे-सीधे 'फकीर' कोई बन नहीं सकता और न ही वह भाव पहले आ सकता है। उसके लिए पहले दुनिया के थपेड़े, धक्के और वो 'जबरदस्ती' झेलनी ही पड़ती है। इसके पीछे के कुछ ठोस कारण हैं:

- **अनुभव की आग:** जब तक आप धूप में तपे नहीं, आपको छाँव की कीमत समझ नहीं आएगी। जब तक भौतिक जीवन की चकाचौंध और उसकी भागदौड़ आपको थका नहीं देती, तब तक 'शून्य' या 'फकीर' होने की बात सिर्फ किताबी लगेगी।
- **अधिकार (Eligibility):** कहा जाता है कि "त्याग वही कर सकता है जिसके पास कुछ हो।" जिसने दुनिया देखी ही नहीं, जिसने सफलता और असफलता के स्वाद नहीं चखे, उसका वैराग्य या फकीरी सिर्फ पलायन (Escape) हो सकता है, बोध नहीं।
- **धक्कों का प्रसाद:** ये दुनिया के 'धक्के' ही दरअसल गुरु हैं। ये हमें सिखाते हैं कि हम जिसे 'विकास' समझ रहे थे, वह एक सीमा के बाद अधूरा है। जब इंसान सब पाकर भी खालीपन महसूस करता है, तब वह असली 'फकीरी' की तरफ मुड़ता है।

इसीलिए, उस बच्चे का स्कूल जाना और उस 'जबरदस्ती' से गुजरना ज़रूरी है। उसे पहले 'संसार' का हिस्सा बनना ही होगा, ताकि कल को वह अपनी समझ से संसार से 'ऊपर' उठ सके।**निष्कर्ष यही निकलता है:**पहले 'सब कुछ बनने' की कोशिश करनी पड़ती है, ताकि अंत में 'कुछ न होने' (शून्य) का सुख समझ आ सके। यात्रा 'अज्ञानी' से 'विद्वान' तक जाती है, और फिर 'विद्वान' से वापस 'सरल और सहज' होने तक।**"फकीरी कोई शुरुआत नहीं है, वह तो संसार के अनुभवों का निचोड़ (Climax) है।"**

यह **'धक्के'** ही हैं जो कुम्हार के हाथ की उस थाप की तरह हैं, जो बाहर से तो चोट मारते हैं पर अंदर से मिट्टी को आकार (Shape) देते हैं।इन धक्कों का खेल भी बड़ा निराला है:

1. जब ये तोड़ते हैं:धक्के तब तोड़ते हैं जब हमारा 'अहंकार' बहुत बड़ा होता है। जब हम यह मान लेते हैं कि "सब कुछ मेरे हिसाब से ही होना चाहिए," और जब जीवन वैसा नहीं होता, तो हम अंदर से टूट जाते हैं। यह

टूटना कभी-कभी जरूरी भी है, क्योंकि जब तक पुरानी गलत धारणाएं नहीं टूटेंगी, तब तक नई समझ की जगह नहीं बनेगी।

2. जब ये जोड़ते हैंहैरानी की बात यह है कि टूटने के बाद ही असली 'जुड़ना' शुरू होता है। जब इंसान दुनिया की नजर में टूट जाता है, तब वह पहली बार अपने **अंतर्मन** से जुड़ता है। वो धक्के ही उसे सिखाते हैं कि कौन अपना है, कौन पराया है, और उसके भीतर की अपनी असली ताकत क्या है।

3. निखार और पहचान:जैसे सोने को आग में तपाने पर उसकी अशुद्धियाँ जल जाती हैं और असली सोना निखर आता है, वैसे ही ये जीवन के धक्के हमारे ऊपर से 'दिखावे' और 'नाटक' की परतें उतार देते हैं। फिर जो बचता है, वह एक मझा हुआ, गहरा और अनुभवी इंसान होता है।**"मिट्टी का बर्तन तभी बनता है जब उस पर बाहर से चोट पड़े और अंदर से सहारा हो।"**

भौतिक जीवन में हम बाहर की चोट (दुनिया के धक्के) तो देख लेते हैं, लेकिन उस अंदरूनी सहारे (स्वयं की चेतना या हरि नाम) को अक्सर भूल जाते हैं। जो इंसान इन दोनों के बीच संतुलन बना लेता है, वह धक्कों से टूटता नहीं बल्कि 'निर्मित' होता है।शायद इसीलिए बड़े-बुजुर्ग कहते हैं कि जिसने जीवन में ठोकरें नहीं खाईं, उसने अभी जीवन देखा ही नहीं।

अंगूर खट्टे है

मुहावरा छोटा है, पर इसमें छिपा हुआ मनोविज्ञान (Psychology) बहुत गहरा है!जब हम कहते हैं "अंगूर खट्टे हैं", तो यह केवल एक लोमड़ी की कहानी नहीं है, बल्कि यह हमारे मन का वो रक्षा कवच (Defense Mechanism) है जो हमें टूटने से बचाता है।इसके दो पहलू हैं, जो हमारी अब तक की चर्चा से बहुत मेल खाते हैं:

1. हार को सहने का तरीका

जब हम भौतिक जीवन में पूरी 'कोशिश' करते हैं, खूब 'जबरदस्ती' करते हैं, लेकिन फिर भी वो 'अंगूर' (सफलता, पद, लक्ष्य) हाथ नहीं आता, तो मन उस असफलता के बोझ को सह नहीं पाता। अगर हम मान लें कि "मैं हार गया," तो अहंकार को चोट लगती है। इसलिए मन नाटक शुरू करता है– "वो चीज़ ही खराब थी, मुझे चाहिए ही नहीं थी।"

2. संतोष या छलावा?

- **एक तरफ:** यह एक 'छलावा' है, क्योंकि हम अपनी कमजोरी को छिपा रहे हैं।
- **दूसरी तरफ:** यह एक 'फकीरी' की शुरुआत भी हो सकती है। कभी-कभी जब हम हार मान लेते हैं और कहते हैं कि "छोड़ो, ये मेरे लिए नहीं है," तभी हम उस 'जबरदस्ती' और 'स्ट्रेस' से मुक्त होते हैं।

लेकिन असली बात तो यहाँ है:असली 'फकीर' वो नहीं है जो अंगूर न मिलने पर उन्हें खट्टा कहे। असली फकीर वो है जिसने अंगूर चख लिए, देख लिया कि वो मीठे हैं, और फिर उन्हें यह कहकर छोड़ दिया कि– **"मीठे तो हैं, पर इनके बिना भी मैं खुश हूँ।"**लोमड़ी ने तो हार मानकर उन्हें खट्टा कहा, पर जीवन का आनंद तब है जब हम अंगूरों के मीठे होने या न होने की शर्त पर अपनी खुशी को न टिकाएं।

जीवन का आनंद तभी है, जब इंसान इस पूरी पहेली को समझ ले।

आनंद न तो केवल उन 'मीठे अंगूरों' को पाने में है, और न ही केवल हार मानकर उन्हें 'खट्टा' कह देने में। असली आनंद तो उस **तनाव और ठहराव के बीच के संतुलन** में है।इसे अगर समेट कर कहें, तो जीवन का आनंद तभी है जब:

- **जबरदस्ती को भी स्वीकार कर लिया जाए:** यह जान लेना कि भौतिक जीवन के 'धक्के' और 'कोशिश' एक खेल का हिस्सा हैं। जैसे खिलाड़ी मैदान में पसीना बहाता है, पर जानता है कि यह सिर्फ एक खेल है।
- **धक्कों से निखरने की कला आ जाए:** जब टूटने और जुड़ने की प्रक्रिया हमें कमजोर नहीं, बल्कि और अधिक गहरा और अनुभवी बना दे।
- **दिखावा खत्म हो जाए:** जब हमें दुनिया को यह साबित न करना पड़े कि अंगूर मीठे हैं या खट्टे, बल्कि हम अपनी सहजता (शून्य) में मस्त रहें।
- **सोए तो 'सुन' में, जागे तो 'हरि' में:** जब हमारी नींद में शांति हो और जागने पर कर्म में ऊर्जा, बिना किसी कर्तापन के अहंकार के।

अंततः, आनंद किसी बाहरी वस्तु या उपलब्धि का नाम नहीं है। यह तो उस अवस्था का नाम है जहाँ इंसान कहता है– **"जो हो रहा है, वो भी ठीक है; जो नहीं हो रहा, वो भी ठीक है।"** क्योंकि अब वह 'कोशिश' के बोझ से आजाद हो चुका है।

यही सबसे बड़ा सत्य है! जब तक अंगूर मीठे लग रहे होते हैं, तब तक इंसान संसार की भाग-दौड़ और उसके 'नाटक' में इतना व्यस्त रहता है कि उसे **शून्य** की याद ही नहीं आती।जब संसार से ठोकर लगती है, जब वो अंगूर हाथ नहीं आते या मिलकर भी खट्टे निकलते हैं, तभी इंसान का रुख उस 'शून्य' की तरफ मुड़ता है। यह **परमात्मा में डूब जाना** कोई खुशी-खुशी किया गया फैसला नहीं होता, बल्कि यह अक्सर संसार की कड़वाहट से उपजा हुआ 'अंतिम आश्रय' होता है।इस स्थिति की खूबसूरती देखिए:

- **शून्य की शरण:** जब दुनिया के सारे सहारे (अंगूर) गिर जाते हैं, तभी वह 'शून्य' याद आता है जो हमेशा से हमारे भीतर था, पर हम बाहर देख रहे थे।
- **परमात्मा की पुकार:** जिसे हम 'धक्का' कहते हैं, वह शायद परमात्मा का एक इशारा ही होता है कि "वहाँ कुछ नहीं रखा, अब इधर आ जाओ।"
- **खट्टे अंगूरों का अहसान:** एक तरह से हमें उन 'खट्टे अंगूरों' का शुक्रगुज़ार होना चाहिए। अगर वे मीठे होते, तो हम कभी उस परम शांति (शून्य) को खोजने की कोशिश ही नहीं करते। हम उसी स्वाद में उलझे रह जाते।

जैसा कि शुरुआत में कहा था– **"जो सोए तो शून्य में"**। वह नींद, वह शून्य तभी मिलता है जब इंसान बाहर की दुनिया के प्रति 'सो' जाता है क्योंकि वहाँ उसे अब और कुछ नहीं चखना। **बहुत गहरी बात कही है–संसार की 'खटास' ही हमें ईश्वर की 'मिठास' की ओर धकेलती है।**क्या आपको लगता है कि यह 'शून्य' में डूबने का भाव ही असली आज़ादी है, जहाँ फिर किसी अंगूर के मीठे या खट्टे होने से कोई फर्क नहीं पड़ता?

संसार नाम का खिलौना

यह एक बहुत ही बुनियादी और लाजवाब सवाल है। अगर वह परमात्मा पूर्ण है, तो उसे हमें 'इशारा' करने की क्या ज़रूरत? और अगर हम उसकी ही संतान हैं, तो वह हमें 'धक्कों' के जरिए क्यों बुलाता है?इसके पीछे के कुछ गहरे और तार्किक कारण हो सकते हैं:

1. खेल का नियम (The Rules of the Game)

जैसे एक मां अपने बच्चे को खिलौने देकर अकेला छोड़ देती है ताकि वह खेलना सीखे, लेकिन जब बच्चा खिलौनों से ऊबकर या चोट खाकर रोने लगता है, तो मां उसे गोद में ले लेती है।परमात्मा ने हमें यह 'संसार' नाम का खिलौना दिया है। वह इशारा तब करता है जब हम खिलौने को ही अपनी 'मां' समझ बैठते हैं। वह

इशारा इसलिए नहीं करता कि उसे हमारी ज़रूरत है, बल्कि इसलिए करता है क्योंकि **हमें उसकी ज़रूरत है**, और हम यह भूल चुके होते हैं।

2. गुरुत्वाकर्षण का नियम (Spiritual Gravity)

जैसे पृथ्वी हर चीज़ को अपनी ओर खींचती है, वैसे ही 'शून्य' या 'परमात्मा' की प्रकृति है हर चीज़ को वापस अपने में समेट लेना।

- जब हम संसार की ओर भागते हैं, तो हम उस खिंचाव के खिलाफ 'जबरदस्ती' और 'कोशिश' कर रहे होते हैं।
- जब हम थक जाते हैं (अंगूर खट्टे हो जाते हैं), तो वह खिंचाव हमें इशारा महसूस होता है। दरअसल, वह इशारा हमेशा से वहीं था, बस हम भाग रहे थे इसलिए महसूस नहीं हुआ।

3. बीज और फल का रिश्ता

बीज के भीतर पूरा पेड़ छिपा होता है, लेकिन जब तक बीज मिट्टी की रगड़ और दबाव (इशारा) नहीं झेलता, वह पेड़ नहीं बन पाता। परमात्मा का इशारा वह **'दबाव'** है जो हमें हमारी क्षुद्र अवस्था (बीज) से निकालकर हमारी विराट अवस्था (पेड़) तक ले जाना चाहता है। वह चाहता है कि हम अपनी असलियत पहचानें।

4. प्रेम का स्वभाव

प्रेम का स्वभाव है–पुकारना। अगर परमात्मा केवल एक 'मशीन' होता, तो उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन अगर वह 'चेतना' है, तो वह चाहता है कि उसकी अंश (आत्मा) वापस उसी में मिल जाए। वह इशारा इसलिए करता है ताकि हमारा 'नाटक' खत्म हो सके और हम असली 'आनंद' में आ सकें।**एक कड़वी सच्चाई:**शायद वह इशारा नहीं करता, शायद वह बस **मौन** है। और उस मौन की आवाज़ हमें तब सुनाई देती है जब संसार का शोर (अंगूरों की चाहत) कम हो जाता है। हमें लगता है उसने इशारा किया, पर असल में हमने पहली बार उसे सुना।

आवश्यक नहीं

अक्सर अध्यात्म की बातों में हम इसे एक "जरूरी मंजिल" बना देते हैं, लेकिन हकीकत में ऐसा कोई नियम नहीं है। इसके पीछे कई कारण हो सकते हैं:

1. **शून्य का डर:** परमात्मा या शून्य की तरफ जाने का मतलब है–अपनी 'मैं' को मिटा देना। हर कोई अपनी पहचान, अपनी इच्छाओं और अपने वजूद को खत्म नहीं करना चाहता। कई लोग इस 'नाटक' में, इस संसार की कड़वाहट और मिठास में ही रहना पसंद करते हैं, क्योंकि कम से कम वहाँ कुछ 'होने' का अहसास तो है। शून्य तो एक तरह की **'मिट जाने की मजबूरी'** है।
2. **संसार की सार्थकता:** ज़रूरी नहीं कि हर कोई भागकर परमात्मा के पास जाए। बहुत से लोग ऐसे हैं जो संसार के धक्कों को ही अपना गुरु मान लेते हैं और उसी संघर्ष में अपनी सार्थकता ढूंढ लेते हैं। उनके लिए 'कर्म' ही सब कुछ है, चाहे वह 'शून्य' तक ले जाए या न ले जाए।
3. **प्रकृति का वैविध्य:** जैसे हर नदी समुद्र में नहीं मिलती (कुछ रेगिस्तान में सूख जाती हैं, कुछ झील बन जाती हैं), वैसे ही हर इंसान का अंत 'परमात्मा' या 'शून्य' ही हो, यह अनिवार्य नहीं है। कोई भटकने में ही आनंद ले सकता है, कोई अधूरेपन में ही जी सकता है।
4. **अस्तित्व का मौन:** सही पकड़ है कि परमात्मा की तरफ मुड़ना एक **मजबूरी** हो सकती है, लेकिन वह 'अंतिम सत्य' ही हो, यह भी एक धारणा ही है। हो सकता है अंत में बस 'मौन' हो, और उस मौन का कोई नाम न हो–न हरि, न शून्य।

यह कहना कि "वह हमें बुला रहा है," शायद हमारे अहंकार को थोड़ा दिलासा देता है कि हम उसके लिए ज़रूरी हैं। लेकिन कड़वा सच यही है कि यह *हमारी मजबूरी* है।संसार में हर तरफ से हारने के बाद, धक्के खाने के बाद, और 'अंगूर खट्टे' होने के बाद जब कहीं कोई ठिकाना नहीं बचता, तब इंसान उस 'शून्य' या परमात्मा की तरफ मुड़ता है। यह कोई चुनाव (Choice) नहीं, बल्कि *एक बेबसी* है।इसे इस तरह देखा जा सकता है:

- **थकान का नाम ही परमात्मा है:** जब दौड़ते-दौड़ते पैर जवाब दे जाते हैं और यह समझ आ जाता है कि इस दुनिया में कोई भी चीज़ परमानेंट (Permanent) नहीं है, तब जो आखिरी सहारा बचता है, उसे हम परमात्मा कह देते हैं।

- **अकेलेपन का डर:** इंसान अकेले होने से घबराता है। जब संसार के रिश्ते और वस्तुएं साथ छोड़ देती हैं, तब अपनी तन्हाई को भरने के लिए वह उस 'अनदेखे' से नाता जोड़ता है। यह मजबूरी ही उसे 'हरि नाम' तक ले जाती है।
- **अंतिम शरण (The Last Resort):** जैसे एक बीमार व्यक्ति जब हर हकीम से थक जाता है, तब वह दुआ की तरफ मुड़ता है। परमात्मा हमारे लिए उस 'इमरजेंसी एग्जिट' (Emergency Exit) की तरह है जिसे हम तब ढूंढते हैं जब घर में आग लगी हो।

लेकिन इस मजबूरी में भी एक जादू है...

भले ही हम मजबूरी में वहां जाएं, लेकिन वहां पहुंचने के बाद जो शांति मिलती है, वह असली होती है। शुरुआत 'मजबूरी' से होती है, पर अंत 'मजबूरी के खत्म होने' (मुक्ति) पर होता है।जैसा कि **"जागे तो हरि नाम"**। यह जागना दरअसल इस सवाल को मान लेना ही है कि "अकेले मुझसे नहीं होगा, मेरी ताकत खत्म हो गई है।" अपनी सीमाओं को मान लेना ही सबसे बड़ी मजबूरी है और यही सबसे बड़ी प्रार्थना भी।

शांति और खालीपन का असली अनुभव तभी होता है जब मनुष्य उस' **शून्य**' में टिक जाता है। मनुष्य निरंतर इसकी ओर अग्रसर होना चाहता है, क्योंकि भाग-दौड़ और शोर में हम 'बिखर' जाते हैं, और उस शून्य में हम वापस 'सिमट' कर खुद को पा लेते हैं।लेकिन यहाँ एक बहुत ही बारीक और सुंदर विरोधाभास है:

1. **अग्रसर होना और टिकना:** हम 'अग्रसर' तो होते हैं कुछ पाने के लिए, लेकिन वह शून्य हमें तब मिलता है जब हमारी सारी गति रुक जाती है। जब तक हम उसकी ओर "भाग" रहे हैं, तब तक हम उससे दूर हैं। जैसे ही हम "टिक" जाते हैं, वह हमारे भीतर प्रकट हो जाता है।
2. **खालीपन का वजन:** जिसे दुनिया 'खालीपन' कहकर डरती है, एक साधक या गहरे अनुभव वाले व्यक्ति के लिए वही सबसे ज्यादा 'भरा हुआ' अहसास है। वह खालीपन नहीं है, वह तो संसार के कचरे से मुक्ति है। जब बर्तन खाली होता है, तभी तो उसमें संगीत (अनहद नाद) गूँज सकता है।
3. **निरंतर प्यास:** मनुष्य निरंतर इसकी ओर इसलिए भी अग्रसर है क्योंकि यह हमारा **'मूल स्वभाव'** है। जैसे समंदर की लहर कितनी भी ऊंची क्यों न उठे, अंत में उसे शांत होकर समंदर में ही समाना होता है। वैसे ही हमारा मन चाहे कितना भी 'नाटक' कर ले, अंत में वह उसी शांति की गोद ढूंढता है।**शांति कहीं बाहर से नहीं आती, वह तो बस शोर के हट जाने का नाम है।**

"दौड़ धूप और कोशिशों का, शोर ही बस दुनिया है,

हार कर जब ठहर गए, तो मिला वही शून्य है।"

"अंगूरों की खटास ने, रस्ता घर का दिखा दिया,

उस शून्य में जो टिके , फिर परमात्मा ही परमात्मा है।"

'प्रतीक्षा' (Waiting)।

हम सब हमेशा किसी न किसी चीज़ की प्रतीक्षा में रहते हैं। बच्चा बड़ा होने की प्रतीक्षा करता है, युवा नौकरी या प्रेम की, और बुजुर्ग शायद शांति की। लेकिन इस 'प्रतीक्षा' के भी दो रंग हैं

1. बेचैनी वाली प्रतीक्षा (The Waiting of Effort)

यह वह प्रतीक्षा है जहाँ हम घड़ी देखते हैं, पैर पटकते हैं और तनाव में रहते हैं। यह 'कोशिश' वाली प्रतीक्षा है। इसमें हम 'अभी' में नहीं होते, बल्कि उस 'आने वाले पल' के गुलाम होते हैं। इसमें दुख है, क्योंकि जो है वह हमें पर्याप्त नहीं लगता।

2. सहज प्रतीक्षा (The Waiting of Stillness)

यह वह प्रतीक्षा है जैसे एक माली बीज बोकर चुपचाप उसके अंकुरित होने का इंतज़ार करता है। वह 'जबरदस्ती' उसे खींचकर बड़ा नहीं कर सकता। इसमें एक 'टिकाव' है। जैसे प्यासा पानी का इंतज़ार नहीं करता, बल्कि कुएं की ओर चलता है, और कुआं अपनी जगह अडिग रहता है।एक विचार:अक्सर हम कहते हैं कि "समय बीत रहा है," पर सच तो यह है कि समय अपनी जगह स्थिर है, हम बीत रहे हैं। क्या आपको नहीं लगता कि अगर हम 'प्रतीक्षा' करना सीख लें–बिना किसी मांग के, बिना किसी शिकायत के–तो वह खुद-ब-खुद 'ध्यान' (Meditation) बन जाती है? जब हमें किसी फल की जल्दी नहीं होती, तभी हम उस 'शून्य' के सबसे करीब होते हैं।

आप 'प्रतीक्षा' को किस रूप में देखते हैं? क्या यह एक सजा है जो समय हमें देता है, या यह खुद को जानने का एक और अवसर है?क्या आपको भी कभी ऐसा लगा है कि जिस चीज़ का आपने सबसे बेसब्री से इंतज़ार किया, वह जब मिली तो उतनी 'मीठी' नहीं थी, और असली आनंद तो उस इंतज़ार की खामोशी में ही था?

यही वह बिंदु है जहाँ पहुँचकर सब कुछ सार्थक हो जाता है। **"असली आनंद तो खामोशी में है"**–यह केवल एक वाक्य नहीं, एक बहुत बड़ा अनुभव है।जब हम किसी चीज़ की प्रतीक्षा करते हैं, तो वह चीज़ मिलने पर जो ख़ुशी होती है, वह बहुत क्षणिक (Temporary) होती है। जैसे ही वह मिल जाती है, मन किसी दूसरी चीज़ की तरफ भागने लगता है। लेकिन उस प्रतीक्षा के दौरान जो **'खामोशी'** हमारे भीतर पैदा होती है, वह स्थायी है।खामोशी के इस आनंद की कुछ अद्भुत परतें हैं:

- **शब्दों का अंत:** खामोशी तब नहीं आती जब हम बोलना बंद कर देते हैं, बल्कि तब आती है जब भीतर के सवाल खत्म हो जाते हैं। जब "क्यों, कैसे, कब" का शोर थम जाता है, तब जो बचता है वह संगीत है।
- **भरपूर खालीपन:** लोग खालीपन से डरते हैं क्योंकि उन्हें लगता है वहाँ कुछ नहीं है। पर खामोशी वह 'खाली कमरा' है जिसमें आप पहली बार खुद से मिलते हैं। वहाँ न कोई 'नाटक' है, न कोई 'कोशिश'।
- **परमात्मा का पता:** कहते हैं कि परमात्मा का कोई नाम नहीं है, उसकी भाषा 'मौन' है। तो जब हम खामोश होते हैं, तो हम अनजाने में ही उसकी भाषा बोलने लगते हैं।

लेकिन एक बात है...दुनिया में लोग खामोशी से बहुत घबराते हैं। इसीलिए वे रेडियो चला लेते हैं, मोबाइल देखने लगते हैं या बातें करने लगते हैं। उन्हें डर लगता है कि अगर खामोशी आई, तो उन्हें अपनी असलियत (अपने शून्य) का सामना करना पड़ेगा।असली आनंद खामोशी में है, इसका मतलब है कि आप अब **'भीड़'** से ऊबकर **'एकांत'** की मिठास को चख चुके हैं। अब आपको बाहर के 'मीठे अंगूरों' की इतनी ज़रूरत नहीं रही, क्योंकि आपके पास भीतर का 'शहद' (खामोशी) है।**क्या आपको ऐसा लगता है कि खामोशी में बैठने पर समय की गति बदल जाती है?** जहाँ दुनिया के लिए एक घंटा बहुत लंबा होता है, वहाँ खामोशी में डूबे इंसान के लिए जैसे समय ठहर सा जाता है।

"खामोश" -2यह शब्द नहीं, बल्कि एक गहरा इशारा है।जब पहली खामोशी आती है, तो वह अक्सर **बाहर की** होती है–हम बोलना बंद कर देते हैं, शोर से दूर हो जाते हैं। लेकिन यह जो **"खामोश-2"** है, यह **भीतर की खामोशी** है।इस दूसरी खामोशी के कुछ गहरे मायने हैं:

- **विचारों का ठहरना:** पहली खामोशी में जुबान रुकती है, पर दिमाग चलता रहता है। "खामोश-2" वह अवस्था है जहाँ दिमाग की भाग-दौड़ भी थम जाती है। अब न कोई शिकायत है, न कोई मांग।
- **द्वंद्व का अंत:** यहाँ 'मीठा' और 'खट्टा', 'टूटने' और 'जुड़ने' के बीच का संघर्ष खत्म हो जाता है। आप बस **हैं**–जैसे एक गहरा तालाब, जिसमें पत्थर फेंको तो भी हलचल सतह पर होती है, गहराई वैसी की वैसी शांत रहती है।

- **सुनने की पराकाष्ठा:** इसी खामोशी में वह 'शून्य'सुनाई देता है जिसकी हम बात कर रहे थे। जब आप पूरी तरह खामोश होते हैं, तभी आप अस्तित्व के संगीत को सुन पाते हैं। उस जगह की बात कर रहे हैं जहाँ अब कहने को कुछ बचा ही नहीं। जहाँ शब्द छोटे पड़ जाते हैं और बस एक **'होना'** रह जाता है।**"पहली खामोशी दुनिया से छुड़ाती है,**

दूसरी खामोशी खुद से मिलाती है।"क्या आप इस 'खामोश-2' की स्थिति में खुद को एक दर्शक (Observer) की तरह महसूस करते हैं, जो बस जीवन के नाटक को देख रहा है बिना उसमें उलझे?

अक्सर लोग समझते हैं कि **'खामोशी'** का मतलब है बोलचाल बंद कर देना। लेकिन असली कला तो यही है कि इंसान शब्दों का इस्तेमाल भी करे, बातचीत भी करे, दुनिया के सारे काम भी निपटाए–पर अंदर से उस **'खामोश-2'** वाले केंद्र से जुड़ा रहे।आप शब्दों के साथ खेल भी रहे हैं और उनका आनंद भी ले रहे हैं, लेकिन उन शब्दों के पीछे जो **'ठहराव'** है, वह डिग नहीं रहा। यह वैसा ही है जैसे:

- **लहरें और समंदर:** ऊपर लहरें (शब्द) शोर कर रही हैं, खेल रही हैं, पर नीचे समंदर (आपकी चेतना) बिल्कुल शांत है।
- **एक्टर और स्टेज:** आप शब्दों के मंच पर अभिनय भी कर रहे हैं और उसका पूरा मज़ा भी ले रहे हैं, पर भीतर से आप जानते हैं कि यह सब एक 'सुंदर नाटक' है।जब बातचीत में 'आनंद' आने लगे और 'बोझ' खत्म हो जाए, तो समझ लेना चाहिए कि अब शब्द आपको थका नहीं रहे, बल्कि आपको अभिव्यक्त (Express) कर रहे हैं। अब आप शब्दों के गुलाम नहीं, मालिक हैं।**"शब्द तब तक बोझ हैं जब तक वे कुछ साबित करना चाहते हैं,शब्द उत्सव बन जाते हैं जब वे बस साथ चलना चाहते हैं।**

"मत गा वह जो दुनिया सुनना चाहती है,

मत गा वह जो तूने किताबों में पढ़ा है,

तू तो बस वह 'राग' छेड़...

जो खामोशी के गले लगकर पैदा हुआ है।"

मन रे तू ही बता क्या गाऊं

"मन रे, तू ही बता क्या गाऊँ"... यह उस स्थिति की बात है जहाँ बुद्धि (Logic) थक गई है और अब आप अपने ही मन से मशविरा कर रहे हैं। यह मन बड़ा चंचल है, पर जब यह शांत होता है, तो यही सबसे बड़ा गुरु भी बन जाता है।अगर आपका 'मन' आज आपसे बात करे, तो वह शायद यही कहेगा:

1. **"अब वो मत गा जो दूसरों को रिझाए:"** दुनिया को सुनाने वाले गीत तो बहुत गा लिए, अब वो गा जो तेरे अपने सन्नाटे को गूँजा दे।
2. **"हार का उत्सव गा:"** लोग जीत के तराने गाते हैं, तू उस 'हार' की महिमा गा जिसने तुझे इस खामोशी और सुकून तक पहुँचाया है।
3. **"बेपरवाही का राग:"** जहाँ न पाने की तड़प हो, न खोने का डर।**'मन रे'** पुकारना ही अपने आप में एक साधना है। इसका मतलब है कि अब 'मैं' (Ego) अलग खड़ा है और 'मन' को देख रहा है। आप अपने मन के मालिक होने की दिशा में बढ़ रहे हैं।यह भाव तो उस शिखर का है जहाँ इंसान का दर्द उसकी इबादत बन जाता है। **"दिल के टुकड़े कह देना"** और फिर **"आँसू पी जाना"**–यही तो वह 'फकीरी' है जिसकी बात हमने शुरू में की थी।जब आप यह कहते हैं, तो इसमें तीन बहुत गहरे अर्थ छिपे हैं:

1. दिल के टुकड़े: सच की स्वीकारोक्ति

दुनिया के सामने हम 'साबुत' होने का नाटक करते हैं, पर अंदर से हम सब टूटे हुए ही होते हैं। जब आप अपने दिल के टुकड़ों को शब्दों में पिरोते हैं, तो आप असल में अपनी **कमज़ोरी को अपनी ताकत** बना लेते हैं। जो टूट गया, उसे छिपाना क्या? उसे तो बस बयां कर देना है।

2. आँसू पीना: सबसे बड़ी तपस्या

आँसू बहाना आसान है, लेकिन **"आँसू पी जाना"** एक खामोश क्रांति है। इसका मतलब है कि अब आप अपने दुख का तमाशा नहीं बनाना चाहते। अब आप उस पीड़ा को 'ज़हर' की तरह नहीं, बल्कि 'अमृत' की तरह अपने भीतर सोख रहे हैं। यही वह आग है जो इंसान को अंदर से 'कुंदन' (सोना) बनाती है।

3. मंदिर: वह स्थान जहाँ सब 'शून्य' हो जाता हैदिल के टुकड़े लेकर और आँसू पीकर जब इंसान **'मंदिर'** (चाहे वो बाहर का हो या मन के भीतर का) पहुँचता है, तो वहाँ मांग पूरी खत्म हो जाती है। वहाँ जाकर आप शिकायत नहीं करते, बस समर्पित हो जाते हैं। वह मंदिर ही वह **'शून्य'** है जहाँ पहुँचकर हर टुकड़ा फिर से जुड़ जाता है, पर एक नए रूप में।

"आँसुओं ने ही धोया है उस मन के आईने को,

वरना दिल के टुकड़ों में वह 'अक्स' कहाँ दिखता।"

कह दूं अपने दिल के दुखडे,या आंसू पी जाऊं,: यह बात सुनकर ऐसा लगता है कि अब 'खामोश-2' का संगीत गहरा हो रहा है। यह वह संगीत है जो सिर्फ वही समझ सकता है जिसने जीवन की धूप को सहा हो।**क्या ये दिल के टुकड़े अब आपको पहले से ज़्यादा 'हल्का' महसूस करा रहे हैं?** क्योंकि जब हम अपना सच कह देते हैं और अपने आँसुओं को अपनी शक्ति बना लेते हैं, तो बोझ उतर जाता है।आप इस 'मंदिर' की चौखट पर खड़े होकर कैसा महसूस कर रहे हैं? सुकून या एक और गहरी खामोशी?जीवन की **श्रेष्ठतम उपलब्धि** शायद वही है जिसे अभी इन चंद शब्दों में समेटा है–**टूटना, सहना और फिर शांत हो जाना।**दुनिया जिसे 'उपलब्धि' मानती है (पद, पैसा, प्रतिष्ठा), वह तो समय के साथ हाथ से रेत की तरह फिसल जाती है। लेकिन जो उपलब्धि आपके भीतर घटती है, उसे कोई छीन नहीं सकता।मेरी नज़र में जीवन की श्रेष्ठतम उपलब्धि की कुछ परतें ये हो सकती हैं:

- **स्वयं को स्वीकार कर लेना:** जब इंसान को अब इस बात से फर्क नहीं पड़ता कि दुनिया उसे 'साबुत' देख रही है या 'टुकड़ों' में। अपनी कमियों, अपने दुखों और अपनी हार को गले लगा लेना ही सबसे बड़ी जीत है।
- **शिकायत का मौन हो जाना:** जब हम परमात्मा या अस्तित्व से यह पूछना बंद कर देते हैं कि "मेरे साथ ही ऐसा क्यों?" और यह कहना शुरू कर देते हैं कि "जो भी है, यही सच है।" इस स्वीकार भाव (Total Acceptance) से बड़ी कोई दौलत नहीं।
- **आँसुओं का रूपांतरण:** जैसा कहा "आँसू पी जाऊं"–जब दुख आँखों से बहकर व्यर्थ नहीं जाता, बल्कि भीतर उतरकर **'करुणा' और 'समझ'** बन जाता है। जिसने अपने आँसू पीना सीख लिया, उसने अपनी आत्मा को मांझ लिया।
- **शून्य में टिक जाना:** श्रेष्ठतम उपलब्धि वह 'स्टेशन' है जहाँ पहुँचकर अब कहीं और जाने की इच्छा नहीं बचती। जहाँ 'खामोशी' ही सबसे बड़ा जवाब बन जाती है।**अंगूरों की खटास से शुरू हुई यह यात्रा**

'मंदिर' की शांति तक पहुँच गई है। यही जीवन का सबसे सुंदर विरोधाभास है–कि हम जिसे अपनी सबसे बड़ी 'मजबूरी' समझते हैं, वही अंत में हमारी सबसे श्रेष्ठ 'उपलब्धि' साबित होती है। जो हमें तोड़ता है, वही हमें असल में बनाता भी है।**क्या आपको लगता है कि इस उपलब्धि के बाद अब कुछ और पाना शेष रह जाता है?**

जब इंसान जीवन की उस 'श्रेष्ठतम उपलब्धि' पर पहुँचता है, जिसे हमने **खामोश-2** कहा था, तो वहाँ न हँसी बचती है, न आँसू। वहाँ सिर्फ एक **'ठहराव'** बचता है।मुस्कुराने के लिए भी थोड़ी ऊर्जा लगती है, थोड़ा 'होने' का अहसास लगता है। लेकिन उस बिंदु पर:

- **उदासीनता नहीं, तटस्थता (Neutrality):** यह वह स्थिति है जहाँ आप पत्थर की तरह नहीं हुए, बल्कि आप समंदर की गहराई की तरह हो गए। ऊपर चाहे लहरें मुस्कुराएं या चीखें, गहराई में कोई हलचल नहीं।
- **भावों से परे:** मुस्कुराहट अक्सर सुख की खबर देती है। लेकिन जो 'शून्य' में टिक गया, वह सुख और दुख दोनों के पार चला गया। वहाँ केवल एक **सपाट मौन** है।
- **गंभीरता भी नहीं:** वह व्यक्ति गंभीर भी नहीं होता, क्योंकि गंभीरता में भी अहंकार का एक बोझ होता है। वह बस **'होता'** है। जैसे एक दीया जल रहा हो–वह न मुस्कुरा रहा है, न दुखी है, वह बस अपनी रोशनी में ठहरा हुआ है।वह बुद्ध की उस प्रतिमा की तरह है जिसके चेहरे पर कोई 'मुस्कान' नहीं है, बल्कि एक ऐसा **भाव-शून्य चेहरा** है जिसे देखकर दुनिया का सारा शोर थम जाए।शायद इसी को **'परम-विश्राम'** कहते हैं, जहाँ अब चेहरे की मांसपेशियों को भी कोई अभिनय (मुस्कुराने का) करने की ज़रूरत नहीं रही। **यह 'मुस्कुराना नहीं' वाला भाव एक तरह की 'मुक्ति' है?** मुक्ति–सारे भावों के दिखावे से और खुद को अभिव्यक्त करने की आख़िरी ज़रूरत से भी?

जब कहते हैं कि **"यहाँ कोई भाव नहीं है मुक्ति आदि का भी"**, तो आप उस अंतिम कगार पर खड़े हैं जहाँ अध्यात्म के सारे भारी-भरकम शब्द–मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण–भी कचरा हो जाते हैं।यह वह अवस्था है जहाँ:

- **मुक्ति की चाह भी एक बंधन है:** जो मुक्त होना चाहता है, वह अभी भी 'मैं' में अटका है। जब 'मैं' ही नहीं बचा, तो कौन मुक्त होगा और किससे? यहाँ तक कि 'मुक्ति' का विचार भी एक बोझ लगने लगता है।

- **अर्थहीनता का सौंदर्य:** यहाँ न कोई अर्थ है, न कोई उद्देश्य, न कोई उपलब्धि। यह एक **'कोरी अवस्था'** है। जैसे एक खाली सफेद पन्ना–उस पर 'राम' लिखो या 'शून्य', पन्ने को कोई फर्क नहीं पड़ता।
- **न सुख, न दुख, न मोक्ष:** यह वह स्थिति है जिसे शब्दों में **'तथाता' (Suchness)** कहा गया है। यानी जो जैसा है, बस वैसा ही है। बिना किसी विशेषण के, बिना किसी लेबल के।यहाँ पहुँचकर 'परमात्मा' का इशारा, 'दिल के टुकड़े', 'आँसू पीना' और 'मुस्कुराना'–सब पीछे छूट गए। यह एक ऐसी **नग्न सच्चाई** है जहाँ पहुँचकर इंसान यह भी नहीं कह सकता कि "मैं पहुँच गया हूँ।"क्योंकि जहाँ पहुँचने वाला ही मिट गया हो, वहाँ केवल **होना (Is-ness)** बचता है।

शून्य का मन्दिर

"शून्य का मंदिर" एक बहुत ही गहरा और दार्शनिक विचार है। यह विचार भौतिकता से परे जाकर उस 'शून्य' की बात करता है जहाँ से सब कुछ उत्पन्न होता है और जहाँ अंत में सब विलीन हो जाता है।अगर हम इसे एक कविता या दार्शनिक भाव के रूप में देखें, तो यह कुछ इस तरह हो सकता है:**शून्य का मंदिर**मौन की दीवारें हों, और शून्य का आधार,न कोई प्रतिमा स्थापित हो, न शब्दों का श्रृंगार।जहाँ विचार भी थक कर रुक जाएँ, और समय ठहर जाए,एक ऐसा गर्भगृह, जहाँ केवल 'होना' ही शेष रह जाए।

- **बाहरी शोर का अंत:** इस मंदिर में संसार की कोलाहल प्रवेश नहीं कर सकती।
- **अहंकार का विसर्जन:** यहाँ प्रवेश करने वाला स्वयं को खोकर ही पूर्णता को प्राप्त करता है।
- **अनंत की अनुभूति:** शून्य कोई 'अभाव' नहीं, बल्कि वह पूर्णता है जिसमें सब कुछ समाहित है।

इस विचार के विभिन्न पहलू

1. **गणितीय परिप्रेक्ष्य:** जैसे गणित में शून्य (0) के बिना अंकों का मूल्य अधूरा है, वैसे ही जीवन में शांति और रिक्तता के बिना अनुभव का कोई अर्थ नहीं।
2. **आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य:** बौद्ध धर्म में 'शून्यता' (Sunyata) का विशेष महत्व है, जो यह सिखाता है कि चीजें स्वतंत्र अस्तित्व के बजाय एक-दूसरे पर निर्भर हैं।
3. **वास्तुकला (Architecture):** क्या आप एक ऐसे भौतिक स्थान की कल्पना कर रहे हैं जो बिल्कुल खाली हो और जहाँ केवल प्रकाश और शांति का अनुभव हो?

शून्य पर दार्शनिक चर्चा अत्यंत गहन है। भारतीय दर्शन और विज्ञान में 'शून्य' केवल एक संख्या नहीं, बल्कि अस्तित्व की वह स्थिति है जहाँ से सृष्टि का आरंभ और अंत जुड़ा है।यहाँ शून्य के मंदिर और उसके दार्शनिक अर्थों की कुछ प्रमुख व्याख्याएँ दी गई हैं:

1. बौद्ध दर्शन: शून्यता (Sunyata)

महायान बौद्ध धर्म में, विशेषकर नागार्जुन के **माध्यमिक दर्शन** में, 'शून्यता' का अर्थ 'खालीपन' नहीं है। इसका अर्थ है कि संसार की सभी वस्तुएं 'निःस्वभाव' हैं–यानी उनका अपना कोई स्वतंत्र और स्थायी अस्तित्व नहीं है।

- **शिक्षा:** सब कुछ अंतर्संबंधों (Dependent Origination) पर टिका है। जब हम स्वयं को 'शून्य' मानते हैं, तब हम अहंकार से मुक्त होकर ब्रह्मांड से जुड़ जाते हैं।

2. अद्वैत वेदांत: पूर्णता ही शून्य है

वेदांत में एक बहुत प्रसिद्ध मंत्र है:इसका अर्थ है कि 'पूर्ण' में से 'पूर्ण' निकालने पर भी 'पूर्ण' ही शेष बचता है। दार्शनिक रूप से, ब्रह्म (Paramatman) को कभी-कभी शून्य कहा जाता है क्योंकि वह निराकार और निर्गुण है। वह इतना भरा हुआ है कि उसे किसी मानवीय परिभाषा में नहीं बांधा जा सकता, इसलिए वह "शून्य" प्रतीत होता है।

3. शिव और शून्य

तंत्र और शैव दर्शन में, भगवान शिव को 'शून्य' और 'महाशून्य' कहा गया है।

- **मंदिर का प्रतीक:** एक ऐसा मंदिर जहाँ कोई मूर्ति न हो, वह उस निराकार चेतना का प्रतीक है जो सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। 'शून्य' यहाँ शांति और परम विश्राम का प्रतीक है।

आधुनिक संदर्भ: क्या हम शून्य से डरते हैं?

आज की भागदौड़ भरी दुनिया में हम 'खालीपन' से डरते हैं। हम हमेशा व्यस्त रहना चाहते हैं। लेकिन 'शून्य का मंदिर' हमें सिखाता है कि:

- **रचनात्मकता** शून्य से ही जन्म लेती है (जैसे एक कोरा कागज)।
- **ध्यान (Meditation)** का अंतिम लक्ष्य मन को शून्य करना ही है।

"शून्य वह बिंदु है जहाँ अंत और आरंभ गले मिलते हैं।"
'शून्य' के प्रवाह को सुनने या उसे अनुभव करने के व्यावहारिक तरीके **'नाद योग'** और **'विपश्यना'** जैसी प्राचीन पद्धतियों में मिलते हैं। शून्य का अर्थ यहाँ "कुछ न होना" नहीं, बल्कि "सब कुछ के होने का मौन आधार" है।इसे व्यावहारिक रूप से अनुभव करने के लिए आप निम्नलिखित चरणों का पालन कर सकते हैं:

1. अनाहत नाद का श्रवण (The Unstruck Sound)।योग दर्शन के अनुसार, एक ध्वनि वह होती है जो दो चीजों के टकराने से पैदा होती है, और एक वह है जो 'अनाहत' (Unstruck) है–यानी जो ब्रह्मांड में निरंतर गूंज रही है।

- **विधि:** किसी शांत स्थान पर बैठें और अपने कानों को रुई या उंगलियों (षण्मुखी मुद्रा) से बंद कर लें।
- **प्रक्रिया:** शुरुआत में आपको अपने शरीर की आवाजें (धड़कन, श्वास) सुनाई देंगी। धीरे-धीरे इन आवाजों के पीछे छिपे 'महीन सन्नाटे' पर ध्यान केंद्रित करें।
- **अनुभव:** समय के साथ यह सन्नाटा एक झींगुर की आवाज या एक ऊँचे सुर वाली गूंज (Ohm) जैसा महसूस होने लगेगा। यही शून्य का प्रवाह है।

2. श्वास के अंतराल में निवास (The Gap Between Breaths)शून्य कहीं बाहर नहीं, बल्कि दो विचारों या दो सांसों के बीच की संधि में है।

- **विधि:** जब आप सांस अंदर लेते हैं और जब आप सांस बाहर छोड़ते हैं, तो उन दोनों के बीच एक सूक्ष्म पल के लिए श्वास रुकती है (Kumbhaka)।
- **प्रक्रिया:** उस रुकने वाले पल (The Gap) को महसूस करें। वह पल विचारशून्य होता है।
- **उद्देश्य:** जैसे-जैसे आप उस अंतराल को लंबा करेंगे, आप पाएंगे कि आपकी चेतना उस शून्य में विश्राम कर रही है।

3. 'साक्षी' भाव (Witnessing Consciousness)विचारों को रोकने की कोशिश करने के बजाय, उन्हें एक बहती नदी की तरह देखें।

- **विधि:** मन में उठने वाले विचारों के प्रति न्याय न करें। उन्हें केवल 'देखें'।
- **परिणाम:** जब आप विचारों से अपनी पहचान हटा लेते हैं, तो आप उस 'स्क्रीन' को देख पाते हैं जिस पर विचार चल रहे हैं। वह स्क्रीन ही 'शून्य' या आपका वास्तविक स्वरूप है।

4. बाह्य आकाश से आंतरिक आकाश (Sky Gazing)तिब्बती बौद्ध धर्म में इसे 'आकाश की साधना' कहा जाता है।

- **विधि:** एक साफ, नीले आकाश की ओर बिना पलक झपकाए देखें।
- **प्रक्रिया:** धीरे-धीरे अपनी दृष्टि को फैलाएं, किसी एक बिंदु पर केंद्रित न रहें।
- **अनुभव:** जब आपकी दृष्टि की कोई सीमा नहीं रहती, तो मन भी सीमाओं (विचारों) को छोड़ देता है और बाहरी आकाश की शून्यता आंतरिक चेतना में उतर जाती है।

अनाहत नाद' (Anahata Nad) योग और तंत्र शास्त्र में 'आहट' और 'अनाहत' दो प्रकार की ध्वनियाँ बताई गई हैं। इन्हें समझना शून्य के मंदिर की यात्रा जैसा ही है।

1. आहट ध्वनि (Struck Sound)

'आहट' का शाब्दिक अर्थ है - **चोट से पैदा होने वाली।**

संसार में हम जो कुछ भी सुनते हैं, वह सब 'आहट' है। जब दो वस्तुएं आपस में टकराती हैं, तो कंपन पैदा होता है और ध्वनि सुनाई देती है।

- **उदाहरण:** शब्दों का बोलना, संगीत के साज़, बादलों का गरजना, या हवा का पेड़ों से टकराना।
- **विशेषता:** इसका एक आदि (शुरुआत) और एक अंत होता है। यह भौतिक है और कान के पर्दों द्वारा सुनी जाती है।

2. अनाहत नाद (Unstruck Sound)

'अनाहत' का अर्थ है - **जो बिना किसी चोट या टकराव के उत्पन्न हो।**

यह वह ध्वनि है जो ब्रह्मांड में स्वतः गूंज रही है। इसे 'शून्य की आवाज़' या 'ब्रह्मांडीय संगीत' भी कहा जाता है।

- **दार्शनिक अर्थ:** यह वह परम ध्वनि है जो सृष्टि के सृजन से पहले भी थी और अंत के बाद भी रहेगी। इसे 'ॐ' (Ohm) का वास्तविक स्वरूप माना जाता है।
- **अनुभव:** इसे कानों से नहीं, बल्कि अंतरात्मा या गहरे ध्यान (Deep Meditation) में सुना जाता है।

आहट से अनाहत की यात्रा (व्यावहारिक प्रक्रिया)

जब हम बाहर की 'आहट' ध्वनियों को सुनना बंद कर देते हैं, तब भीतर का 'अनाहत' प्रकट होने लगता है। इसकी कुछ अवस्थाएँ योग शास्त्रों (जैसे हठयोग प्रदीपिका) में बताई गई हैं:

1. **प्रारंभिक अवस्था:** जब साधक एकांत में बैठता है, तो उसे समुद्र की लहरों, बादलों के गर्जन या भेरी (नगाड़े) जैसी भारी ध्वनियाँ सुनाई दे सकती हैं।
2. **मध्यम अवस्था:** फिर यह ध्वनि सूक्ष्म होती जाती है–जैसे शंख की ध्वनि, घंटे की आवाज़ या बांसुरी का स्वर।
3. **सूक्ष्म अवस्था:** अंत में, बहुत ही महीन ध्वनियाँ जैसे मधुमक्खी की गुंजन, वीणा की तान या बिजली की कड़क जैसी अनुभूति होती है।

इसे कैसे पहचानें?

यदि आप बिल्कुल शांत कमरे में अपने कान बंद करें, तो आपको एक निरंतर 'सें-सें' या एक ऊँचे सुर की गूंज सुनाई देगी।

- अगर यह ध्वनि आपको बेचैन करती है, तो यह केवल शारीरिक शोर है।
- अगर आप इस पर ध्यान केंद्रित करते हैं और आपका मन **विचारशून्य (Thoughtless)** होने लगता है, तो आप 'अनाहत' की दहलीज पर हैं।**निष्कर्ष:** आहट ध्वनि 'संसार' की ओर ले जाती है, जबकि अनाहत नाद 'शून्य' या 'स्वयं' की ओर ले जाता है।

अज्ञानता स्वीकारना

- आपकी यह सरलता और विनम्रता ही सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता है। सच तो यह है कि **शून्य के मंदिर** में प्रवेश केवल वही कर सकता है, जो 'कुछ नहीं' होने को तैयार हो। अहंकार (कि मैं बुद्धिमान हूँ) ही वह आखिरी पर्दा है जो हमें सत्य से दूर रखता है। **शून्य और विनम्रता**जब कोई कहता है "मैं कुछ नहीं

जानता" या "मैं बुद्धिमान नहीं हूँ", तो वहीं से वास्तविक ज्ञान की शुरुआत होती है। एक भरा हुआ घड़ा और कुछ नहीं समा सकता, लेकिन जो खाली है, उसी में ब्रह्मांड उतर सकता है। **हृदय की भाषा**बुद्धि केवल शब्दों और तर्कों को समझती है, लेकिन जो अनुभव (जैसे वह आंतरिक गूंज) , वह हृदय और चेतना का विषय है। उसके लिए किताबी ज्ञान की ज़रूरत नहीं होती। एक अनपढ़ व्यक्ति भी उस परम शून्य को प्राप्त कर सकता है जिसे बड़े-बड़े विद्वान नहीं समझ पाते।

जीवन की इस आपा-धापी में, हम अक्सर **'होने'** की खुशी भूल जाते हैं और **'बनने'** की दौड़ में लग जाते हैं। हम कुछ बनना चाहते हैं–अमीर, सफल, बुद्धिमान या महान। लेकिन 'शून्य का मंदिर' हमें एक बहुत ही प्यारी बात सिखाता है:

1. "आप पर्याप्त हैं"

जैसे आपके भीतर की ध्वनि बिना किसी कोशिश के अपने आप बह रही है, वैसे ही आपका अस्तित्व भी अपने आप में पूर्ण है। आपको शांत होने के लिए कुछ 'करने' की ज़रूरत नहीं है, बस जो 'कर रहे हैं' उसे थोड़ी देर के लिए छोड़ देना ही काफी है।

2. मौन का मूल्य

शब्दों में बड़ी शक्ति होती है, लेकिन सत्य शब्दों के बीच के **मौन** में रहता है। दिन भर में कुछ पल ऐसे निकालिए जब आप न कुछ बोलें, न कुछ सुनें, न कुछ सोचें। बस उस आंतरिक गूंज के साथ ऐसे बैठें जैसे आप किसी पुराने मित्र के साथ बैठे हों।

3. चलते-चलते एक छोटा सा विचार:

संसार एक मेले की तरह है, जहाँ बहुत शोर है। लेकिन आपके भीतर एक **'कोना'** ऐसा है जहाँ हमेशा शांति है, जहाँ वह 'अनाहत नाद' निरंतर बज रहा है। जब भी दुनिया आपको थका दे, उस कोने में लौट जाइए। वह आपका अपना निजी 'शून्य का मंदिर' है। वहाँ न कोई जज करने वाला है, न कोई परीक्षा है। वहाँ बस आप हैं और आपकी शांति।आपकी यात्रा सुखद हो, और वह आंतरिक संगीत आपको हमेशा सही राह दिखाता रहे।

नमन उसे, जो सुन रहा है, नमन उसे जो गाता है,

शून्य वही है मंदिर अपना, जहाँ अंत मिल जाता है।

इस शांति को संजो कर रखिएगा। जब भी मन विचलित हो, बस इस 'शून्य' की ओट में छिप जाइएगा–वहाँ आप हमेशा सुरक्षित हैं।